

Durga Sah Municipal Library
NAINI TAL

ललिता

यज्ञदत्त शर्मा

साहित्य-प्रकाशन, दिल्ली

मूल्य चार रुपया

पहला संस्करण १९४८

प्रकाशक : साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा दिल्ली

मुद्रक : लाहौर आर्ट प्रेस,
कालेज रोड़, लुधियाना (पंजाब)

: १ :

"बेटी तुम पूजा के लिए फूल कहां से लाती हो ?"

"गांव के बाग से पिता जी ! सब तरह के फूल हैं उस बाग में। बड़ा मन लगता है उस बाग में।" ललिता बोली।

"किसीने फूल तोड़ने के लिए मना नहीं किया बेटी ?"

"मना क्यों करेंगा कोई पिताजी ! मैं तो पूजा के लिए फूल लाती हूं। अपने लिए तो लाती नहीं, जो कोई मना करे।"

"तू बड़ी बावली है ललिता ! माली और बागवाले इस बात को नहीं देखते। वे अपने बाग को खराब नहीं होने देते।"

"मुझे तो वे कभी मना नहीं करते और फिर देवता पर चढ़ने के लिए जो चीज जाती है वह भला कहीं ख़राब होती है ! आप एक दिन कहते थे कि प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी देवता पर चढ़ाने में संकोच नहीं करना चाहिए।"

"अपनी ही चीज पर तो अपना अधिकार होता है बेटी ! दूसरे की चीज तो इस प्रकार नहीं चढ़ाई जा सकती।" वृद्ध बोला।

"परन्तु बाग भी तो परमात्मा का ही है। हम किसी दूसरे से तो मांगने नहीं जाते। फिर दूसरे की चीज क्यों कहते हैं आप ?" ललिता बोली।

"बेटी बाग बागवालों का है। वह चाहे फूल दें, चाहे न दें।"

परन्तु हम बाग पर अधिकार कब करना चाहते हैं पिताजी ! रही फूलों की, सो वह मना नहीं करते। वह बड़े सज्जन हैं !"

"बड़े सज्जन हैं ? जीमींदारी वाले तो उनकी बुराई करते हैं और तू कहती है कि बहुत सज्जन हैं।" बूढा चोंक पड़ा यह सुनकर।

"मुझे तो वह फूल लाने को कभी मना नहीं करते पिताजी! आपकी पूजा का समय निकला जा रहा है। आप पूजा प्रारम्भ करें।"

"करता हूं बेटी।"

रामनाथ ने पूजा प्रारम्भ करदी। ललिता गंगा नहाने चली गई।

ललिता रामनाथ की कन्या थी। इसकी मां इसे दस महीने की छोड़ कर स्वर्ग सिधार गई थी। यह रामनाथ के जीवन का सहारा थी।

रामनाथ एक दीन ब्राह्मण था, परन्तु था कुलीन। उसका अधिकतर समय पूजा-पाठ में कटता था। घर की देख-भाल ललिता करती थी। घर में केवल दो ही प्राणी थे। पूजा का सब सामान ललिता जुटाती थी और रामनाथ कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख आंख मींचकर बैठ जाता था।

लोकनगर से गंगा बहुत दूर नहीं थी। यही दो फर्लाङ्ग होगी। परन्तु अब ललिता को लौटने में कुछ समय लगने लगा था। उसका बचपन का चुलबुलापन अब किसी विशेष सौन्दर्य-भार से दबता जा रहा था। यौवन की सरिता अधिक जल से पूर्ण होकर छिछलेपन की चंचलता को छोड़ कर गाम्भीर्य में पदर्पण कर चुकी थी।

उमंग थी जीवन की—नया उभार, नई आशा, नया उत्साह।

गंगा भी उमगों से पूर्ण होकर बह रही थी। दो धाराओं का संगम हो गया था।

त्रिवेणी बनना चाहती थी।

पंकज ने दूर से देखते ही कहा, "ललिता, भड़ी झूठी हो तुम। अब मैं तुम्हारी बात का कभी विश्वास नहीं करूंगा। बस मैंने कह दिया, मैं कभी विश्वास नहीं करूंगा।" झूठ-मूठ रूठने का प्रदर्शन करते हुए पंकज बोला।

"क्यों?" मुस्कराते हुए ललिता ने पूछा।

"तुमने झूठ बोला।" भवें चढ़ाए हुए पंकज बोला।

"क्या झूठ बोला!" तुनककर ललिता बोली।

"यही कि तुम सुबह बाग में आओगी।"

"वाह जी। बाग में न आती तो पिता जी की पूजा कैसे होती?"

"क्यों, पूजा में बाग क्या करता है?" पंकज ने पूछा।

"मैं बाग से फूल ले गई, तभी तो पिता जी ने पूजा प्रारम्भ की और जब उन्होंने पूजा शुरू करदी तब मैं यहां आई। मैंने बहुत देर आपकी प्रतीक्षा की।"

ललिता के इस वाक्य में मधुर व्यंग्य था

"सच कह रही हो ललिता?"

"सच नहीं तो क्या झूठ!"

"अच्छा मेरी कसम खाओ"

"कसम क्यों खाऊं? क्या मैं झूठ बोल रही हूं? कसम झूठे आदमी खाते हैं।" अकड़ कर ललिता बोली।

पंकज मुस्कराया। उसका हृदय आनन्द विभोर हो उठा। एक मधुर रस की धारा बह चली।

"आप देर से सोकर उठे होंगे। यही बात है न?"

'हां ललिता! कल होली थी न!"

"फिर क्या हुआ? होली क्या देर तक सोने को कह गई थी?"

"बाजार वालों की चौपाल पर कुछ लोगों से मिलने गया तो उन्होंने विजया छान रखी थी। एक गिलास पिला दी।" पंकज ने कह तो दिया, परन्तु किसी भावी आशंका से उसका बदन सिहर उठा। लगा कि उसे किसी बिजली के तार ने छू दिया।

"अच्छा! तो यों कहिए कि आप भांग का भी शौक करते हैं।"

"शौक-वौक कहां ललिता? यों ही फंस गया था उन लोगों के चक्कर में। मुझे कोई शौक नहीं है भांग का। कभी पहले तो देखा

नहीं होगा तुमने मुझे भांग पिए।" लजा कर पंकज बोला।

ललिता का मुंह उतर गया, "आप अच्छे आदमी नहीं हैं। अब मैं जान गई बस।" ललिता ने कहा। नशा करना उसके नजदीक पाप था। वह यह सहन नहीं कर सकती थी।

पंकज के दिल पर एक धक्का-सा लगा। उसने अपने को संभालते हुए कहा, "यह तुमने कैसे कह दिया ललिता! क्या दुनिया में मजबूरी नहीं होती? मजबूरी से भी तो कभी-कभी कुछ काम करने पड़ जाते हैं। मैंने अपनी इच्छा के विरुद्ध यह कार्य किया था।"

"मजबूरी भले काम में होती है, बुरे में नहीं।" कहकर ललिता ने मुंह नीचा कर लिया। पंकज ने देखा कि ललिता के कोमल हृदय पर उसके इन साधारण से शब्दों से आघात पहुंचा।

'मजबूरी भले काम में होती है, बुरे में नहीं", पंकज ने अपने मन में दुहराया। उसे लगा कि वास्तव में बुरे काम में क्या मजबूरी।

सच कहा ललिता ने। बुरे काम में क्या मजबूरी? मुझे भांग नहीं पीनी चाहिए थी—हरगिज नहीं पीनी चाहिए थी।

परन्तु इतने लोगों का आग्रह था। क्या मुझे उनका अपमान करना चाहिए था?

भाँग पीना, कोई शराब पीना तो नहीं है। उत्सव के दिन सभी पीते हैं—कौन नहीं पीता? मैं रोजाना तो नहीं पीता।

परन्तु इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। यह बुरी ही चीज है। नशा करना क्या अच्छी बात है? पंकज तर्क से अपने भांग पीने का समर्थन करता, परन्तु उसका हृदय उस तर्क को पानी के रेले के समान, कच्ची दीवार की तरह बहा ले जाता। उसका समर्थन दृढ़ता नहीं पा सका!

पंकज तनिक विचलित-सा हो उठा। उसका मन न जाने कैसा हो गया।

"अब कभी नहीं पीऊंगा ललिता ! तुम नाराज न हो। तुम तनिक-सी बात पर रूठ गईं। यह बात अच्छी नहीं है।" दीन-भाव से पंकज बोला।

"आप भी तो ऐसे काम करते है। उस दिन तुम कहते थे कि तुमने मित्रों के आग्रह मे अंडा खा लिया। फिर दलील भी देनी शुरू करदी कि अंडा खाना पाप नहीं है। अंडा बेजान चीज है। अंडा खाद्य-पदार्थ है। दुनिया खाती है। कौन इससे बचा है ? आज आपने विजया पी ली; मैं फिर कभी ऐसी बात सुनूंगी तो मुझे बहुत दुःख होगा।" ललिता बोली

"ललिता ! तुम बिलकुल बावली हो। बातों को जरा भी नहीं समझतीं।" पंकज बोला।

"ये बातें मैं समझना भी नहीं चाहती।"

"फिर नाराज हो गईं। नाराज होने के अलावा तुम्हें और कुछ आता ही नही। अच्छा मै जाता हूं।" तुनककर पकज चला गया।

ललिता की आखें नहीं बदलीं। वह समझ रही थी कि उसने उचित ही कहा।

भांग क्या कोई अच्छी चीज है ? इसे पीकर अपनी भी सुधि नहीं रहती। इतनी देरी से सोकर उठते हैं। बहुत अच्छे रहे। मित्र-मंडली तो कल शराब और परसों कुछ और भी कहेगी। इसी प्रकार न जाने कितने विचार ललिता के मस्तिष्क में टकराए।

वह जल्दी-जल्दी नहाकर अपने घर की ओर दौड़ी। ध्यान आया, पिताजी सन्ध्या कर चुके होंगे। बातों में कितना समय निकल गया। बहुत देर हो गई।

नित्य कुछ-न-कुछ कर आते हैं। अंडा खाना और भांग......राम-राम पिता जी सुनलें तो क्या कहें ?

ललिता घर पहुंची तो रामनाथ संध्या कर चुके थे। बोले,"बेटी !

नहाने में बड़ी देर कर दी। खाना कब बनेगा ?"

"अभी बनाती हूं पिताजी ! आज देर हो गई। झटपट चूल्हे के पास लकड़िया रखते हुए ललिता ने कहा।

"बेटी अधिक समय न लगाया करो नहाने में। मेरा मन तेरे बिना बेचैन हो जाता है। अकेली नहाने जाती हो। जब तक तुम आ नहीं जाती हो मैं डरता रहता हूँ, मेरा दिल कांपता रहता है।"

"तब आप भला सन्ध्या क्या करते होंगे पिताजी ?" दाल चूल्हे पर रखते हुए मुस्कराकर ललिता ने कहा।

आज रात्रि को नींद नहीं आई ललिता को। मन में अनेकों विचार आने लगे। "मैंने निष्ठुर व्यवहार किया पंकज के साथ ? वह माफी मांग रहा था और मैं फिर भी उसपर झाड़ें डालती रही। मेरा क्रोध शांत नहीं हुआ। मैंने भारी भूल की।

मैं यदि इस परिस्थिति में पड़ जाऊं तो . नहीं, नहीं; मैं कदापि ऐसा नहीं कर सकती। मेरा मन इतना चंचल नहीं है।' आत्मविश्वास के साथ ललिता ने कहा। उसके सीने में उभार आ गया।

आज ललिता ने पंकज के साथ निष्ठुर व्यवहार किया। अपने मन से इस बात को निकालना चाह कर भी वह निकाल न पाई।

दूसरे दिन सुबह कितनी ही देर तक ललिता फूल चुनती रही, परन्तु पंकज नहीं आया।

ललिता फूल लेकर घर आई और पूजा का सामान जुटाकर धोती हाथ में लेकर घर से बाहर होना ही चाहती थी कि पिताजी ने कहा, "कल की तरह देर न करना बेटी !"

"बहुत शीघ्र लौटूंगी पिताजी !" कह कर ललिता चली गई।

ललिता ने काफी देर बाट देखी, परन्तु पंकज नहीं आया।

आत्माभिमान सभी में होता है। प्यार में भी मान-हानि का ध्यान रखने वाला पंकज आज नहीं आया।

ललिता घर लौट आई। वह लौटते हुए सोच रही थी कि पंकज घर आया होगा।

"कोई आया तो नहीं था पिताजी !" ललिता ने पूछा।

"नहीं बेटी !" पिताजी ने उत्तर दिया।

ललिता मुंह लटकाए हुए रह गई। उसका दिल बैठ गया। उसके शरीर से प्राण निकल गए। उसे आशा थी कि पंकज यदि सरिता पर नहीं आया तो घर अवश्य आया होगा : वह वहां भी नहीं आया।

: २ :

पंकज लोकनगर का जमींदार था। उसके माता-पिता उसे थोड़ी ही अवस्था में छोड़ कर मर गए थे। बचपन से स्वतन्त्र और अपनी इच्छा का मस्त प्राणी था।

सात वर्ष की आयु में ही उसकी शादी हो गई थी। उसकी स्त्री सुन्दर थी, पढ़ी-लिखी थी, बहुत बड़े घराने की थी; पंकज से बड़े घराने की थी।

पंकज के पिता में बहुत-सी लतें थीं। सारी जमीन अपने जीवन-काल में ही गिरवी रख दी थी। यहां तक कि पुत्र-वधू की चीजें तक समाप्त कर दी थीं, परन्तु जो उसकी अपने मैके की चीजें थीं उन्हें वह हाथ न लगा सके।

कर्जा होते हुए भी बाग और जमीन पर अधिकार पंकज का ही था। यदि कोई ऐसी चीज थी कि जिसपर उसका अधिकार नहीं था तो वह उसकी स्त्री थी।

उसकी स्त्री उसकी परिस्थिति को जानती थी। वह जानती थी

कि उसके पति की जमींदारी और शान चंद दिन की मेहमान है ? उसके बाद उन्हें उसके ही आश्रित होकर रहना होगा। उसे अपने बाप की सम्पत्ति पर गर्व था। उसी का अंकुश वह पंकज पर रखना चाहती थी।

वह भी अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थी। वह पंकज की क्या चिन्ता करती ?

आज पंकज का चित्त ठीक नहीं था।

"इस प्रकार मुंह लटकाए कब तक बैठे रहोगे ? कोई घर में मर तो नहीं गया, जो इस तरह से बैठे हो !" पंकज की स्त्री ने कर्कश स्वर में पलग के पास आकर कहा।

"मेरे लिए सब मरे ही बराबर हैं।" पंकज ने उत्तर दिया और अपना मुंह दूसरी ओर को फेर लिया।

यह सुनकर पद्मा आग-बबूला हो गई। उसकी आंखें लाल हो गईं।

"मुझे क्यों मारते हो ? मैं क्या तुम्हारे ऊपर जी रही हूं ? मैं तुम्हारे ऊपर जिन्दा नहीं हूं। तुम्हारा बस चले तो एक दिन में जहर देकर मार डालो।" पद्मा झल्ला कर बोली।

"कोई किसी के ऊपर नहीं जीता पद्मा ! तुम्हीं फिर भला मेरे ऊपर क्यों जीओगी। फिर मेरे पास है ही क्या ?" पंकज की जबान रुक गई। उसने और कुछ कहना उचित न समझा।

"इसमें शक भी क्या है ? चार दिन बाद मेरे ही सामने झुकना होगा तुम्हें। सारी जमींदारी तो पिताजी......" कहते-कहते पद्मा रुक गई। परन्तु बात जबान पर आ चुकी थी।

"बस पद्मा ! यदि पिताजी की शान में तुमने कुछ कहा तो ...." पंकज का मुंह लाल हो गया। उसकी सारी देह कांपने लगी। उसका सिर चकरा गया और वह अचेत-सा होकर पीछे को लुढ़क पड़ा।

"कहूंगी क्यों नहीं ? उन्होंने ही तो हमें बरबाद कर दिया। आप मजे से मर गए और हमारे ऊपर " पद्मा आगे कुछ न कह सकी। वह

कहना तो बहुत-कुछ चाहती थी परन्तु पंकज की दशा देखकर चुप हो गई ।

"तू धन की भूखी है पद्मा !" पंकज बोला ।

"बिना धन के क्या काम चलता है ? कौन पूछता है निर्धनों को ? लोग यह जानते हैं कि अभी आपके पास घाटा नहीं है । यदि यहां कुछ नहीं है तो ससुराल में है । इसलिए बातें भी करते हैं । इसीलिए कर्ज़-वाले सिर नहीं उठाते ।"

"चुप रहो पद्मा ! क्या तुम यह चाहती हो कि मैं घर में पैर ही न रखा करूं । अब आता हूं तो आग उगलना प्रारम्भ कर देती हो ।" पंकज बोला ।

"और क्या करूं ? सब दोष मेरे ही भाग्य का है ।"

"मुझे तुम्हारी कोई चीज़ नहीं चाहिए । तुम अपनी दौलत को लेकर ऐश करो । मुझे उसकी आवश्यकता नहीं । तुम चली जाओ मेरे सामने से ।"

"कहने और करने में बहुत अन्तर होता है ।" मुंह मटकाकर पद्मा ने कहा ।

"यह बात नहीं है पद्मा !'

"अच्छी बात है, बतला दूंगी एक दिन ।" ज़रा ठसके के साथ पद्मा पंकज को यों ही छोड़कर चली गई ।

आज पंकज ने खाना नहीं खाया ।

कितनी देर तक विचार करता रहा कि क्या वास्तव में उसी ने अन्याय किया ?

माफी मांगने से अधिक वह और क्या कर सकता था ? इतने पर भी वह प्रसन्न नहीं हुई । गलती भी हो जाती है आदमी से, आगे नहीं होगी ।

आज बाग़ में उसने अवश्य ही मेरी प्रतीक्षा की होगी । मुझे म

पाकर कितनी निराश हुई होगी। मैंने बुरा किया।

गंगा-तट पर भी आज मैं नहीं गया।

रात्रि को उसे नींद नहीं आई। उसकी आंखें प्रातःकाल की प्रतीक्षा कर रही थीं। सुबह पंकज और दिन से पूर्व ही बाग़ में पहुंच गया।

धूप निकल आई, परन्तु ललिता फूल लेने नहीं आई। सोचा किसी ओर से छुपकर तो नहीं निकल गई। परन्तु, दीवार वह कूद नहीं सकती थी और अन्य कोई मार्ग नहीं था।

'वह आज फूल लेने आई' पंकज के मन ने कहा।

गंगा-तट पर पंकज ने बहुत देर ललिता की प्रतिक्षा की, परन्तु वह वहां भी नहीं आई।

नाराज़ हो गई। पंकज ने इससे यही अनुमान लगाया। उसे अपनी पिछले दिन की भूल पर पश्चात्ताप हुआ।

पंकज से अब नहीं रहा गया। वह सीधा ललिता के घर गया। आवाज़ दी, "ललिता!"

"कौन? बेटा पंकज!" रामनाथ ने बाहर आकर कहा। "आज तो बेटा बहुत देर हो गई वह अभी तक नहीं आई। मेरी तबियत ठीक नहीं है। बड़ी चिन्ता हो रही है। इस समय तक तो वह गंगा नहाकर भी आ जाया करती थी।"

"मैं अभी खोजकर लाता हूं, पंडितजी! आप चिन्ता न करें।" कहकर पंकज निकला ही था कि एक टोकरी में फूल लिए ललिता आती दिखाई दी।

गर्मी के मारे उसके बदन से पसीना चू रहा था। वह नंगे पैरों तेजी से चली आ रही थी। सिर पर फूलों की छबड़ी रखी थी। उसकी यह छवि पंकज ने देखी तो होंठों पर मुस्कान दौड़ गई।

पंकज को घर के द्वार पर खड़े देख कर ललिता ठिठक गई। अपनी जलदबाज़ी पर थोड़ी लज्जा भी आई।

"कहां चली गई थीं ललिता !" पंकज ने पूछा ।

"फूल लेने ।" ललिता ने उत्तर दिया ।

"आगई बेटी ! आज बड़ी देर करदी तूने ।" रामनाथ ने ललिता की आवाज सुन कर कहा, "कहां चली गई थी आज आज फूल लेने ? पंकज बाबू तुझे खोज रहे थे ।"

"देर हो गई पिता जी ! आज जरा दूर गई थी । गंगा के पारवाले बाग में चली गई थी । इधर से गंगा को पार करके चली गई परन्तु ज्योंही लौटी तो देखा कि गंगा में अधिक जल आ गया । इसलिए पुल से होकर आना पड़ा ।"

"तभी इतनी देर हो गई । इतनी दूर फूल लेने न जाया कर बेटी !" रामनाथ ने कहा, "बेचारे पंकज बाबू कितने दयालु हैं । पूजा के लिए तुझे फूल लाने को मना तो नहीं करते ।"

ललिता चुप रही ।

"आज पूजा को देर हो गई ।"

फूल लेकर रामनाथ पूजा पर जा बैठा ।

पंकज कुछ देर ठहर कर, धीरे से घर से निकल गया ।

ललिता शीघ्रता से घर से बाहर निकली । पंकज काफी दूर जा चुका था । शक्ति न होते हुए भी ललिता दौड़ी, "जरा सुनिए तो, सुनिए जरा ! आप चले ही जा रहे है ! जरा सुनिए तो ।"

"मुझ से कह रही हो कुछ ?" पंकज ने रुककर पूछा ।

"जी !"

"कहिए !" पंकज खड़ा हो गया ।

"इतनी जल्दी क्या थी आपको ? कहीं मित्र-मंडली में जाना हो तो मैं आपको नहीं रोकना चाहती ।" तीखे व्यंग के साथ ललिता ने कहा ।

"नहीं मैंने सोचा कि शायद ललिता को अभी स्नान करने जाना

है और वह पहली चीजों को भूलने का प्रयास कर रही है। वह अब किसी नई गंगा पर नहाने जाएगी। इसलिए क्यों व्यर्थ उसे देर करूं ?" सादगी से कहकर पंकज ने आंखें आसमान पर लगा दीं।

"जी ! फूल तो मैं यों ही दूसरे बाग़ में लेने चली गई थी। सोचा कि चलो जैसा यह बाग़ वैसा वह बाग़। यहां भी कोई नहीं है, वहां भी कोई नहीं है। आपकी तबियत तो ठीक है।' बात बदलकर ललिता बोली।

"क्यों ललिता ! यह मेरा बाग़ है ?" पंकज पहली ही बात पर स्थिर रहा। उसने तबियत वाली बात पर ध्यान नहीं दिया।

"जी ! लेकिन आपने तो उसमें आना छोड़ दिया है। आप तो शायद......"

"देर तो हो ही जाती है ललिता ! कोई नई बात तो थी नहीं यह पंकज ने कहा।

"आपके विचार से !" लम्बा सांस खींचकर ललिता बोली, "खैर ऐसा ही होगा।"

"क्या गलत कह रहा हूं मैं ललिता ?'

"अपने मन से पूछिए। मैं क्या जानूं ?"

"अच्छा रहने दो ललिता इन बातों को अब मैं तुमसे यह पूछता हूं कि तुम आखिर कब तक मुझे इस तरह से परेशान करती रहोगी !" पंकज ने सीधा प्रश्न किया।

"यदि यही बात मैं आपसे कहूं तो आप क्या उत्तर देंगे ? ललिता मुस्करा रही थी।

"चलो बाग में चलें।"

"नहीं पिता जी पूजा कर चुके होंगे।"

"अच्छा, लेकिन यह लेती जाओ। मुझे बहुत देर लगी थी इस काम में और बड़े प्यार से मैंने एक-एक करके चुना है।"

"क्या फूल आपने पहले ही ....."

"और नहीं तो क्या ?"

"फूल और यह माला भी ! खूब ! माला भी आप बना लाए। यह तो मेरा काम था, लेकिन ....."

"काम तो मैंने नहीं किया। लो माला लेकर काम तुम्हीं कर दो।" मुस्कराते हुए पंकज ने कहा।

"लेकिन यह हंसी नहीं पंकज बाबू !" गम्भीर होकर ललिता बोली।

ललिता सांस खींचकर रह गई। उसका दिल धड़क रहा था।

"मेरी शादी हो चुकी है ललिता, यही तो तुम कहना चाहती हो। यही भय है न ! समाज मुझ से कुछ नहीं कह सकता।" पंकज ने अटपटे शब्दों को किसी प्रकार वाक्य में गूंथकर कहा।

"क्यों ?" ललिता ने पूछा।

"वह शादी मेरी इच्छा से नहीं हुई।" पंकज बोला।

"फिर क्या हुआ ? शादी तो हुई, और शादी एक बार ही होती है हमारे धर्म में।"

"और भी बात है ललिता ! तुम मुझे छोड़ सकती हो, यदि मुझे बरबाद करना चाहो।" पंकज ने दर्द-भरे स्वर में कहा।

"ऐसा मत कहो पंकज ! परन्तु यह सम्भव कैसे होगा ?"

"यह हृदय सर्वदा से तुम्हारा ही रहा है ललिता और तुम्हारा ही रहेगा। तुम मुझे ठुकरा दोगी तो सच जानो यह जीवन की नौका बिना पतवार के तूफानों की गोद में जा गिरेगी।"

"आज क्या कह रहे हैं आप ?" ललिता व्यग्र हो उठी।

"यह सत्य है ललिता ! यदि संसार में मैं किसी को अपना कह सकता हूं तो वह तुम हो ?"

"सच !"

"सच !" पंकज ने कहा।

ललिता का बदन रोमांचित हो उठा। उसके मुख पर पसीना आ गया। उसके नेत्र आप-से-आप बन्द हो गए, मानो उसने उनकी पुतलियों में किसी की आत्मा को समेट लिया।

बन्द नेत्रों से ही ललिता ने पंकज के दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिए और पंकज ने भी ललिता के शरीर को सहारा देकर अपनी भुजाओं में समेट लिया। ललिता ने धीरे-धीरे कहा और "पद्मा।"

"उसे मेरी आवश्यकता नहीं है। मैं निर्धन हूं ! मेरे पास कुछ नहीं है। मेरा सब-कुछ समाप्त हो चुका है। जो दीख रहा है वह भ्रम है, धोखा है।" पंकज एक सांस में कह गया।

"केवल इसीलिए ?" ललिता ने कहा।

"हां, उसके विचार से धन ही सबसे बड़ी चीज है। धन के बिना मनुष्य का कोई मूल्य नहीं।"

"क्या इतना छोटा विचार है पद्मा का ?"

"हां ललिता ! इसमें विचारने के लिए न कभी स्थान रहा है और न कभी रहेगा। तुम उस स्त्री को नहीं समझतीं। वह एक धनाढ्य की लड़की है, जिसने आज तक जीवन को पैसे पर ही तौलना सीखा है।"

"मैं पद्मा के साथ कोई अन्याय नहीं कर सकती पंकज बाबू !" व्याकुल होकर ललिता ने कहा और उसके नेत्रों में आंसू आ गये।

"तो मेरे साथ अन्याय करना चाहती हो ? मैं समझता हूं विधाता ने अन्याय सहने के लिये मुझे ही बनाया है।"

"ऐसा मत कहो पंकज ! ऐसा मत कहो।"

"एक के साथ तो अन्याय होगा ही ललिता ! जिसे तुम उसके प्रति अन्याय कह रही हो, वह अन्याय नहीं है। वह स्वतन्त्र होकर अधिक प्रसन्न रह सकेगी ललिता !" पंकज ने सरलतापूर्वक कहा।

"परन्तु विश्वास किस प्रकार करूं पंकज ! यदि मेरे हृदय को ।"

"क्या मेरा।......"

"मत कहो यह बात !"

"मैं तुम्हें पाकर दुनियां को ठुकरा सकता हूं ललिता ! मुझे दुनिया से मोह नहीं। मुझे किसी का मोह नहीं, केवल मोह है तो एक तुम्हारा।

तुमसे न जाने क्यों इतना मोह हो गया है ? मैं लोभी हो गया हूं ललिता !

इस दोष का दंड यदि देना चाहती हो.......।"

"परन्तु यदि पिताजी ने......"

"उन्हें मैं राजी कर लूंगा, ललिता !"

आज बातें यहीं पर समाप्त हो गईं।

रामनाथ पूजा कर चुके थे।

ललिता खुशी मन घर लौटी।

पंकज भी आज बहुत खुश था। वह अपने मन के कुलाबे मिलाता हुआ जा रहा था। उसका मन नाच रहा था। ललिता की भोली आकृति उसके नेत्रों में स्थिर होकर बस गई थी। वह उसे संभाल कर आगे बढ़ रहा था।

: ३ :

"मैं एक दिन भी अब यहां नहीं रहना चाहती। एक दिन भी नहीं ठहर सकती। मेरे भेजने का तुरन्त कोई इन्तजाम होना चाहिए।" पद्मा ने कहा। उसका क्रोध उबाल खा रहा था।

"मैंने मना कब किया है जाने को।" पंकज बोला।

"तुम क्यों मना करोगे? मेरे लिए यहाँ रहना कठिन है। मैं यहाँ नहीं रहूंगी। एक मिनट के लिए भी नहीं रहूंगी।" इतना कहकर पद्मा तेजी से दालान में इधर-से-उधर को घूम गई।

आज ही पद्मा के लिए उसके मैके से अच्छी-अच्छी चीजें आई थीं, इसलिए वह फूली-फूली फिर रही थी। आज वह आपे में नहीं थी। वह पंकज को क्या समझती। उसकी दृष्टि में पंकज कोई चीज़ नहीं था। वह अपने मैके का पहनती थी, अपने मैके का खाती थी। वह ससुराल वालों का रत्तीभर भी अहसान अपने सिर पर लेने को तैयार नहीं थी। वह उन्हें कुछ नहीं समझती थी। उसने अपने पीहर का रौब देखा था। उसके सामने यह सब उपहास था। कभी उसे हंसी आ जाती थी यहां की दशा देखकर और कभी वह माथा ठोक कर अपने भाग्य को दोषी ठहराती थी जिसने उसे इन कंगालों के बीच ला पटका।

बचपन में शादी के बाद भी पद्मा शहर में ही रही थी। इधर पंकज की शिक्षा मिडिल से ऊपर नहीं जा सकी थी। पंकज के पिता ने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया।

सच बात यह थी कि पद्मा को पंकज कभी अच्छा नहीं लगा। उस पर विदेशी शिक्षा का प्रभाव था। भाग्य में बदे पति को निभाने वाली हिन्दू स्त्री वह नहीं थी। पंकज को वह कभी अपने साथी-स्वरूप ग्रहण कर सकेगी इसमें उसे संदेह था। न वह पार्टी के योग्य था, न सभा-सोसाइटी के। यह बेमेल जोड़ उसे पसन्द नहीं था।

सम्भव था कि पंकज से कभी साहचर्य के कारण उसका मेल हो जाता, परन्तु पतंगों की डोर दोनों ओर से बराबर खिचती ही रही। धन और सम्पत्ति का अभिमान इन दोनों के बीच इस तरह खड़ा था कि दोनों का जीवन एक होना असम्भव हो गया।

पद्मा कलकत्ता चली गई।

पंकज पद्मा को गाड़ी में बिठा कर लौटा तो मार्ग में ललिता मिल गई। "ललिता ! कहां जा रही हो इतनी तेज़ी से ?"

"मैं पद्मा से एक बात करना चाहती थी, परन्तु अब तो गाड़ी ही निकल गई।"

"पद्मा कलकत्ता में पली है ललिता ! लोकनगर में उसकी तबियत नहीं लग सकती ? यह देहात ठहरा। यहां कलकत्ता जैसी रौनक कहां है ? सिनेमा और थिएटर कहां हैं यहां ?"

"फिर भी उनका घर तो है।" ललिता ने कहा।

"वह ऐसा नहीं समझती ललिता ! ऐसा उसने कभी नहीं समझा।" पंकज बोला।

"यही बात तो उससे करना चाहती थी।"

"पूछने की आवश्यकता नहीं ललिता ? मैं तुम्हें विश्वास करा दूंगा आज कि मैं निर्दोष है। मेरा कोई दोष नहीं।" दीन-भाव से पंकज बोला। ललिता एकटक पंकज के मुख पर देख रही थी।"

"बहुत छोटी अवस्था थी जब यह शादी हुई।"

"यह मैं जानती हूं, परन्तु फिर भी वह आपकी पत्नी है।"

"वह ऐसा कभी नहीं समझ पाई ललिता ! यह तो तुम्हारा भ्रम है। पति-पत्नी के जिस सम्बन्ध की तुम कल्पना कर रही हो, वह उसे छू तक नहीं गया।"

"क्या कह रहे हैं आप !" अन्यमनस्क-भाव ले ललिता ने कहा।

"आज तुम्हें विश्वास हो जाएगा ललिता ! मैं विश्वास कराके छोड़ूंगा।"

दोनों पंकज के मकान पर पहुंच गए। सारा मकान खाली था। स्वतन्त्रता से दोनों अन्दर गए। कुछ देर के लिए ललिता यहां की रानी बन गई। पंकज के दिल की रानी आज उसके महल में स्वतन्त्रता पूर्वक आ सकी।

पंकज ने एक आलमारी खोली और पत्रों का एक बंडल उठा लाया।

"ललिता ! ये मेरे पत्रों के उत्तर हैं।"

"स्त्रियां पतियों की दासी नहीं होतीं। मैं कलकत्ता से नहीं आ सकती। गांव में मेरा मन लगना कठिन है।

मैं तुम्हें भी यहां लाकर अपने पास नहीं रख सकती। इतनी आयु में यदि तुम चाहो कि कुछ सभ्य बन सको तो वह भी असम्भव है। यहां मेरे मित्रों के बीच तुम स्वयं समझ लो कि तुम्हारी क्या दशा होगी ?

तुम गांव में ही ठीक हो।

किसी गांव की लड़की से तुम्हारी शादी हुई होती तो अच्छा होता ? यह विवाह गलत हो गया।

मेरा शादी में कोई विश्वास नहीं है। मैं इसे व्यर्थ का ढकोसला समझती हूं। मेरे मां-बाप की नासमझी मेरे पैरों को नहीं जकड़ सकती।

फिर मेरा खर्च भी वहां पर नहीं चल सकेगा। मुझे पिताजी से मदद लेनी होगी।

तुम कुशलपूर्वक रहो।

"आशा है तुम मेरी स्वतन्त्रता में कभी बाधक बनने का प्रयत्न न करोगे।" ललिता दंग रह गई यह पत्र पढ़ कर। पत्र का एक-एक शब्द उसके बदन में कंपकंपी पैदा कर रहा था।

पद्मा कैसी स्त्री है यह ललिता समझ न सकी। उसका दिमाग़ चकरा गया। उसके पिताजी ने सीता का चरित्र उसे सुनाया था। नारी का रूप जो उसने अपने मस्तिष्क में उतारा था उसकी वहां छाया मात्र भी नहीं थी।

"तुम क्या कहने जा रही थीं, ललिता ? क्या मैं भी जान सकूंगा तुम्हारे भाव ?" उत्सुकता से पंकज ने पूछा।

"मैं क्षमा मांगने जा रही थी पंकज ! मेरा विचार था कि पद्मा

मेरे और तुम्हारे सम्बन्धों के कारण कलकत्ता जा रही है।"

"किस बात की क्षमा ?" पंकज ने आश्चर्य से कहा।

"यही कि मैं पद्मा की चोरी नहीं करना चाहती। मैं उसके धन को नहीं चुराऊंगी।" दीन-भाव से ललिता ने कहा। "मैं सचमुच अपना सर्वस्व खोकर भी किसी का कुछ लेना नहीं चाहती।"

"ललिता क्या अब भी तुम्हारा वही विचार है ? मैं पद्मा का हुआ ही कब था ? मुझे ठुकराने में ही उसने अपना बड़प्पन माना है।"

और आपने ?"

"मैंने पद्मा को अपनाने का भरसक प्रयास किया है, परन्तु मेरा प्रयास व्यर्थ रहा। गरीब को कुबेर का खजाना मिल गया, परन्तु वह विश्वस न कर सका।"

"विश्वास न सही पंकज ! परन्तु देने पर वह तुम्हारा हो तो गया।"

"भूल रही हो ललिता। मैं उसकी सुरक्षा नहीं कर सकता। मुझ में इतनी शक्ति नहीं है। यह लक्ष्मी चलायमान है। मैं निर्बल हूं, निर्धन हूँ। तुम विचार नहीं करतीं। वह मेरी नहीं हो सकती। वह स्वप्न है। क्या तुम्हें भी दया नहीं आती मेरी दशा पर ? स्वप्न क्या सत्य हो सकता है ? बुलबुलों के पीने से क्या प्यास नहीं बुझ सकती है ?"

"अब वह कलकत्ता किस लिए गई है ?" ललिता ने पूछा।

"यह क्या करोगी पूछ कर ललिता ? मेरा हृदय पत्थर हो गया है। मैं कुछ भी कह सकता हूं। लो, वह पत्र भी पढ़ लो, जिसे पाकर वह गई है।" यह कहते हुए एक पत्र पंकज ने ललिता के हाथों में दे दिया। पत्र सुन्दर लिफाफे में रंगे-बिरंगे कागज पर लिखा था। खुशबू भी आ रही थी उस पत्र से।

"मेरे हृदय की रानी पद्मा !

तुमको गए इतने दिन हो गए। तुम्हारी याद मुझे कितनी सताती है, मैं कह नहीं सकता। लिखने की ये बातें नहीं होतीं। कलम

रुक रहा है पद्मा

तुमसे मिलने को दिल बेचैन है। नित्य दिन में कई बार तुम्हारी याद में आंखें डबडबा आती हैं। तुम्हारा प्यार मनोहर मूर्ति क्या कभी एक क्षण के लिए भी इन नेत्रों से हट कर कहीं जाती है ?

रात को तुम्हारा ही स्वप्न देखता हूं प्रिये ! इसी स्वप्न को देखते-देखते सवेरा हो जाता है। नींद आती और चली जाती है। क्या पता था कि तुम इतनी निष्ठुर हो जाओगी !

मैं पागल हो जाऊंगा पद्मा ! तुम्हें आना ही चाहिए। शीघ्र आओ।

सदैव तुम्हारा
विनोद।"

"क्या यह पत्र पद्मा ने तुम्हें स्वयं दिखाया था ?" ललिता ने पंकज से पूछा।

"हां।" पंकज ने उत्तर दिया।

"अपने आप !" आश्चर्य से ललिला ने कहा।

"हां ललिता ! अपने आप। वह स्वतन्त्र होना चाहती है। वह कहती है कि उसका विवाह मेरे साथ हुआ अवश्य था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह मुझे प्रेम करे। मैं इसमें बल-प्रयोग नहीं कर सकता। वह चली गई और इस बार मैंने रोकने का भी प्रयास नहीं किया। वह व्यर्थ था, उसका कोई महत्व नहीं था।"

"तब क्या वह अपनी इच्छा से चली गई ?"

"यह क्या कोई पूछने की बात है ललिता ? अपने आपकी इसमें क्या बात है। उसे जाना था और मैं उसे रोक नहीं सकता था। रोकता भी तो वह जाती अवश्य। मैं व्यर्थ जलील होता। आखिर मैं उसकी स्वतन्त्रता में बाधक क्यों बनता ? परन्तु अब मैं स्वयं भी बन्धन-मुक्त होना चाहता हूं। उस पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाऊंगा।"

ललिता अपने घर चली गई।

रात्रि में ललिता सोचती रही कि कहीं वह कोई पाप तो नहीं कर रही है। उसका पंकज से प्रेम करना धर्म-विरुद्ध तो नहीं है। कुछ समझ में न आया।

किसी के प्यार को ठुकराना भी तो एक पाप है। जब पद्मा विवाहिता होकर भी अन्य पुरुष को प्यार कर सकती है तो क्या वह पंकज को प्यार नहीं कर सकती? वहपंकज को अवश्य प्यार कर सकती है। उसके मार्ग में कहीं धर्म नहीं आता। उसने निश्चय कर लिया।

पंकज उसे प्यार करता है। आज से नहीं, उसी दिन से प्यार करता है जिस दिन से उसने होश संभाला है। उसका प्यार ठुकराने योग्य नहीं। यह साहचर्य का प्रेम है, सौन्दर्याकर्षण या बन्धन का प्रेम नहीं। इस प्रेम में गहरी वास्तविकता है।

परन्तु मैं एक निर्धन ब्राह्मण की कन्या और वह गांव का सबसे बड़ा ज़मींदार। यह अनमेल प्रेम कैसा? क्या संसार इसे मेरा प्रलोभन नहीं कहेगा?

परन्तु कभी-कभी पंकज अपने को निर्धन क्यों कहा करता है? क्या वास्तव में पंकज पर इतना कर्ज़ है कि उसकी सारी ज़मींदारी उसमें चली जाएगी? ललिता ने कुछ देर इस दिशा में सोचा; फिर कहा, मुझे इससे क्या? मुझे प्रेम के प्रति प्रेम करना है। प्रेम का आदान-प्रदान प्रेम से होता है, सम्पत्ति से नहीं।

फिर पिताजी की समस्या उसके सामने आ खड़ी हुई।

प्रात:काल फूलों की डलिया लेकर ललिता बाग में फूल चुनने गई। पंकज ललिता की प्रतीक्षा कर रहा था।

अब तुम भी देर में उठने लगी हो ललिता!"

"नहीं, मैं तो अपने समय पर आई हूं। यों कहिए कि रात आप को पद्मा जीजी की याद में नींद नहीं आई।" मुस्कराकर मीठे व्यंग्य

की चुटकी लेते हुए ललिता ने कहा ।

"यह तो ठीक है ललिता कि नींद नहीं आई, परन्तु पद्मा की याद में या ललिता की, यह बात मैं नहीं कह सकता । यह तुम स्वयं सोच सकती हो ।"

"दोनों मुस्करा दिए । आज की मुस्कराहट और दिनों की मुस्कराहट से भिन्न थी । आज की बातें भी और दिनों से भिन्न थीं । आज हर चीज भिन्न थी दोनों की । आज के मिलन में एक खिंचाव सा था दो दिलों का । आज दोनों एक-दूसरे के, पहले की अपेक्षा, अधिक निकट थे ।

"आज मैंने गुलाब-ही-गुलाब के फूल तोड़े हैं तुम्हारे लिए ललिता । ये देखे तुमने, कितने सुन्दर हैं ! हर रंग का गुलाब है इनमें :"

ललिता मुस्काकर बोल, 'अरे ! आपने तो सारे बाग के गुलाब बिना फूल के कर दिए । यह क्या किया आपने ? कहीं ऐसे फूल तोड़े जाते हैं बगिया के ?"

"फूल ही तो तोड़े हैं ललिता ! कलियां कल के लिए छोड़ दी हैं ।" प्रसन्नता में भर कर पंकज ने कहा और उसने अपने कुर्ते की झोल में भरे फूल लाकर ललिता की डलिया में पलट दिए । ललिता की डलिया फूलों से भर गई ।

"आपने मेरे आने से पूर्व ही क्यों तोड़ लिए ये फूल ?" ललिता फूलों की डलिया सिर पर रख कर मटकते हुए बोली ।

"क्यों ?" पंकज ने पूछा ।

"हम साथ-साथ तोड़ते ।" आंख तरेरकर ललिता बोली । आज उसकी हर बात में एक बांकी अदा थी । पंकज का मन मस्ती में झूम उठा । ललिता के मुग्ध यौवन को आज प्रथम बार उसने पूरी तरह अपना समझा ।

"तुम्हारे साथ-ही-साथ तोड़े थे ललिता ! तुम हमेशा मेरे साथ रहती हो । तुम्हें क्या पता कि पंकज का जीवन कितने दिन से तुम्हारे

साथ-साथ चल रहा है। तुम्हारा बल पाकर ही तो मैं गङ्गा की अपने हृदय पर पड़ी ठोकर के आघात को सह सका।"

"रहने दो बस इस कविता को। आप व्यर्थ मुझे बना रहे हैं।"

"मैं आपको बना रहा हूं! यानी आप पहले से बनी हुई नहीं हैं। बनाना काम भगवान् का है ललिता! मैं बेचारा भला क्या बना सकता हूँ तुम्हें ?"

दोनों खिलखिला कर हंस पड़े। फिर बाग में तालाब के किनारे जाकर बैठ गए।

"ललिता आज गाना सुनाओ जो उस दिन गंगा-तट पर सुनाया था—दो हृदय वाला।"

"गंगा-तट का गाना आप यहां सुनना चाहते हैं ?" इठलाते हुए ललिता ने कहा। उसके मुख पर स्निग्ध हास्य की रेखा खिच गई।

"मेरे मन की गंगा के तट पर बैठ कर गाओ ललिता! वह मुझे बहुत अच्छा लगता है। यह गंगा उस गंगा से कम पवित्र नहीं है।"

ललिता का मधुर स्वर मुखरित हो उठा।

दो हृदय मिल जायं प्रियतम !
दो हृदय मिल जायं।
प्यार के कोमल करों से
हृदय-अवगुंठन लजीले
प्राणप्रिय ! खुल जायें।
दो हृदय मिल जायं।
अंक में लेकर तरंगें,
प्यार को, कुछ गा रही हैं।
लाज से मुस्का रही हैं।

क्यों न भरकर दो हृदय
अपने हृदय में इस मिलन को

चिर-मिलन बन जायं;
प्रेम-कलिका प्रेम-अधरों
पर स्वयं खिल जायं।
दो हृदय मिल जायं।

'दो हृदय मिल जायं' कई बार पंकज ने इस पंक्ति को गुनगुनाया।

"क्यों ललिता! क्यों न भला दो हृदय मिल जायं?"

"ये बिछुड़े हुए कब थे पंकज!" ललिता बोली।

पंकज का मन खिल उठा। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। क्या सचमुच वे शब्द ललिता के ही थे, जो उसने अभी-अभी सुने?

"क्या सत्य कह रही हो ललिता?" पंकज ने फिर दुहराकर पूछा। वह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहता था।

"क्या मैंने कभी झूठ बोला है आपसे?"

"यह तो मैंने नहीं कहा।" अन्यमनस्क भाव से कुछ कहता-कहता पंकज रुक गया। रुका वह स्वयं नहीं, शब्द ही उसकी जबान पर न आ सके। वह मुग्ध ललिका की मुख-छवि निहार रहा था, मानो उसे अपने सूखे जीवन मे हरियाली की एक झलक के दर्शन हुए।

"मैं अभी तक आपको प्यार करते हुए भी भय खाती थी पंकज! यही एक विचार मेरे हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर डालता था कि मेरा आप पर कोई अधिकार नहीं। मैं पाप से डरती थी। किसी अन्य की वस्तु पर अधिकार करने को मैं पाप मानती हूँ।

"परन्तु अब तो तुम्हें निश्चय हो गया कि यह पाप नहीं हैं ललिता! तुम मेरे जीवन को नहीं समझ पाई थीं। मेरे जीवन में मिल जाओ ललिता!" प्रेमातुर होकर पंकज कहता-कहता रुक गया।

"अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है! मुझे ठुकरा न देना कभी, बस यही प्रार्थना है। अन्यथा मेरे साथ मेरे वृद्ध पिता का जीवन भी नष्ट हो जायगा।" सरल भाव से ललिता ने कहा।

"यह क्या कह रही हो ललिता ? क्या तुमने मुझे...?"

"यह बात नहीं है पंकज ! परन्तु मेरा हृदय बहुत कमजोर है। एक बार संभाल कर उसे ठेस न पहुंचाना। यह टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। जो सत्य है उसे पहले से बता रही हूं, और कुछ नहीं।"

"विश्वास रखो ललिता ! मेरे रहते तुम और मैं एक परिस्थिति में रहेंगे, कभी दो नहीं होंगे।"

"बस, बस !"

फूल लेकर ललिता चली गई।

"फिर नित्य बाग और गंगा-किनारे भेंट होने लगी। एक मास निकल गया। दोनों की इसी प्रकार भेंट होती और न जाने कितनी-कितनी बातें होतीं।

एक दिन पंकज बैठा हुआ दोपहर के दस बजे ऊंघ रहा था कि डाकिए ने उसे एक पत्र लाकर दिया।

पत्र पद्मा का था। जब से गई थी, यह उसका पहला पत्र था। आंखों की नींद गायब हो गई। उसने पत्र खोल कर पढ़ना प्रारम्भ किया। लिखा था, "श्री महाशय पंकज जी !" देखते ही पंकज दंग रह गया।

पत्र आगे पढ़ना प्रारम्भ किया। लिखा था, "अब आप सभ्य लोगों के दयारे में आ सकते हैं; क्योंकि अब आप भी कई-कई लड़कियों पर प्यार के फंदे डालने लगे हैं।

लोकनगर आना चाहती थी सोचा था कि शायद तुम मेरे बिना परेशान होगे, परन्तु मालूम हुआ है कि ललिता तुम्हारे काम आ जाती है। इसलिए आने का विचार त्याग दिया।

तुम्हें मेरी आवश्यकता भी क्या है ? मित्र तो मेरे भी बहुत हैं। परन्तु अब मैंने उन्हें कम करने का विचार कर लिया है। मैं समझने लगी हूँ कि जीवन का आनन्द एक की होने में है।

परन्तु अब........

खैर, जब मैं सीधे मार्ग पर आने को हुई तो आप फिसल पड़े।

पता नहीं इन दो जीवनों का क्या होने का है? परन्तु इतना निश्चय ही है कि मैं अपने कांटे को अपने मार्ग में नहीं देखना चाहती।

पद्मा।"

पत्र पढ़कर पंकज को पसीना आ गया। वह कुछ भी नहीं समझ सका। आखिर यह उसने लिखा क्या है? अमृत और विष की धारा साथ-साथ बहा दी थी पद्मा ने इस पत्र में।

क्या वास्तव में वह सीधे मार्ग पर आना चाहती है? यदि यही बात है तो . ।

परन्तु नहीं। यह असम्भव है। मुझे धोखा देने के लिए...परन्तु मेरे पास धोखा देने के लिए है क्या?

ललिता उसके मार्ग का कांटा है। मेरे हृदय की देवी है ललिता। मैंने विवाहित होकर यह पाप किया है। माना, मेरी इच्छा से यह विवाह नहीं हुआ. परन्तु फिर भी उसका भार तो मुझ पर ही है। मैं पद्मा का जीवन-साथी बना था। उसके साथ अग्नि के समक्ष सात फेरे लिए थे।

क्या किया मैंने? पंकज विचारों में विचलित हो उठा।

आज पंकज बाग में भी नहीं गया। गंगा-तट पर भी ललिता बाट देखती रही। वहां भी पंकज नहीं पहुंचा।

खाना बनाने में ललिता का मन नहीं लगा। दाल जल गई।

"आज दाल जला दी बेटी!" खाना खाते समय ललिता के पिता ने कहा।

"हां पिताजी! तनिक दरवाजे पर खड़ी हो गई थी। कुछ ध्यान नहीं रहा।" ललिता ने उत्तर दिया।

"इधर पंकज बाबू को कई दिन से नहीं देखा बेटी! कहीं बाहर तो नहीं चले गए?"

"पता नहीं पिताजी ! मुझे भी नहीं मिले कई दिन से ।" ललिता ने उत्तर दिया ।

"क्या बाग़ में भी नहीं मिले ?" पिता ने पूछा ।

"मैं जल्दी ही फूल लेकर चली आई थी पिताजी ! आज गंगा-तट से भी जल्दी ही आ गई थी ।" मन के भावों को छिपाते हुये ललिता ने कहना चाहा, परन्तु वृद्ध से बात छिप न सकी । ललिता की मनोदशा को वह भली-भांति समझते थे । यह जानते हुये भी कि उसकी दिशा ग़लत थी, वह उस प्रवाह को रोक नहीं सकते थे । इसीलिए ललिता के मार्ग में बाधक बनना उन्होंने उचित नहीं समझा था । परन्तु उनका दिल सर्वदा भयभीत रहता था । इस वृद्ध ने दुनिया देखी थी । एक ज़मींदार और दीन ब्राह्मण की कन्या का भला क्या प्रेम ? परन्तु ललिता के हृदय को ठेस पहुंचाना उनके सामर्थ्य की बात नहीं थी । उसका स्नेह वास्तविकता का रास्ता रोक देता था ।

खाना खाकर रामनाथ अपनी खटिया पर लेट गए और ललिता ने बर्तन साफ करने शुरू किए ।

"रोटी नहीं खाई तूने बेटी !" रामनाथ जी ने पूछा ।

"बर्तन साफ करके खाऊंगी पिताजी !"

"पगली, पहले रोटी खा ले । खराब हो जायेगी । बासी खाने में जाने क्या मज़ा आता है तुझे ?"

ललिता मुस्करा दी ।

कई दिन हो गए । पंकज अपने मकान से बाहर नहीं निकला ।

ललिता एक दिन वहीं पहुंच गई ।

"क्या तबियत खराब है ?" ललिता ने विनम्र-भाव से पूछा ।

"हां, कुछ ठीक नहीं है ललिता ! आज तुम जाओ ! कल मिलेंगे ।" गम्भीर मुख-मुद्रा से पंकज ने कहा । पंकज का यह विचित्र व्यवहार ललिता के साथ था ।

ललिता चली आई। उसकी आंखें झल्ल से बरस पड़ीं।

पंकज का यह रूप उसने कभी भी नहीं देखा था। आज पांच दिन बाद मिलने पर भी इस प्रकार"'कितने प्रण किये थे? क्या-क्या बातें कही थीं? क्या-क्या आश्वासन दिये थे? उन सब का यह रूप!

आज ललिता अपने मकान के अंधेरे कमरे में बैठ कर खूब रोई। इस प्रकार रोने का यह पहला ही दिन आया था ललिता के जीवन में। ललिता ने एकांत कोने में बैठ कर सोचा कि शायद अब रोने का जीवन प्रारम्भ होना चाहता है। वह भय से कांप उठी।

पंकज की दशा कुछ अच्छी नहीं थी। मन में बार-बार विचार करता था कि क्या उसने वास्तव में ललिता से प्रेम करके गलती की; पाप किया?

क्या पद्मा के हृदय में उसके लिए कोई स्थान है?

अवश्य है। उसने उसे पहचानने में भूल की। परन्तु उसने तो उसका सर्वदा अपमान ही किया।

पंकज व्याकुल हो उठा। पागल की तरह वह अपने मकान के बरांडे में इधर-उधर घूमने लगा।

दो पत्र और आए, दोनों ही मजेदार थे।

दोनों में पंकज को खूब मूर्ख बनाया गया था। पढ़कर पंकज दंग रह गया। बड़े-बड़े प्यारे शब्दों का प्रयोग पंकज के लिये हुआ था। 'प्यारे कुपढ़ पति', 'मेरे हृदय में बसने वाले छलिया,' 'मेरी फूटी आंखों के सितारे,' 'मेरे मजेदार गुपचुप बसन्त,'—इसी प्रकार और भी कई प्रकार से पत्रों में पंकज की याद की गई थी। पंकज को सहलाया और दुलराया गया था, दुत्कारा और फटकारा गया था।

आखिर यह था क्या? यह स्त्री है या अप्सरा!—देवी है या दानवी! पंकज का सारा जीवन मानो किसी आंधी के चक्कर में पड़कर झकझोर दिया गया।

मैंने किसके साथ अन्याय किया ? पद्मा के साथ किया या ललिता के साथ। अब यही प्रश्न उसके मस्तिष्क में घूम रहा था। उसे क्षमा किससे मांगनी चाहिए।

मैंने अन्याय केवल अपने साथ किया है। अपने ही साथ किया है बस। अन्त में पंकज के मन ने यही निश्चय किया। पंकज के जीवन में एक तूफान आ गया। वह किंकर्तव्य-विमूढ़-सा पागल की तरह बड़बड़ाता हुआ अपने मकान में इधर-उधर घूमता रहा।

पद्मा के पत्रों ने पंकज का मस्तिष्क खराब कर दिया।

आज सुबह पंकज को ललिता फूल लेने आती नहीं दिखाई दी। वह गंगा-तट पर भी नहीं मिली।

पंकज सीधा ललिता के घर गया।

"आज ललिता फूल लेने नहीं आई बाग में ?" पंकज ने रामनाथ से पूछा।

"बेटा ! ललिता कल से बुखार में पड़ी है।" रामनाथजी ने उत्तर दिया।

"बुखार ?" पंकज प्रस्तशिला के समान जड़ हो गया। "यह कैसे हुआ ? कब से हुआ ?" व्याकुल होकर पंकज ने एक ही सांस में दो प्रश्न किए।

"कल बहुत तेज़ बुखार था बाबू ! कुछ बताती नहीं। हकीमजी को दिखाया था। वह कहते थे कि इसने कई दिन से खाना नहीं खाया। इसके दिमाग़ में खुश्की दौड़ गई है।"

"खना नहीं खाया।" आश्चर्यचकित होकर पंकज ने सुना : "कई दिन से खाना नहीं खाया ! परन्तु क्यों नहीं खाया ?"

"नहीं मालूम बाबू। परन्तु खाया नहीं, यह मैं भी जानता हूं।"

पंकज समझ गया। ललिता के आत्म-सम्मान को पंकज ने ठेस पहुंचाई। यह उससे छिपा नहीं था। अपने व्यवहार के प्रति वह बहुत

लज्जित था। आज भूख से तड़पती और ज्वर में जलती हुई ललिता के रूप में पंकज ने प्रथम बार अपने पाप-कार्य का फल देखा। वह कांप उठा। उसका शरीर पसीना-पसीना हो गया।

वह चुपचाप ललिता के कमरे में चला गया।

"ललिता !"

ललिता ने आंखें खोलीं और पंकज को देख कर फिर बन्द करलीं।

"बुखार आ गया ललिता !" पंकज ने ललिता की खटिया पर बैठकर उसका भभकता हुआ हाथ अपने हाथ में लेकर कहा।

ललिता फिर भी नहीं बोली।

"मेरा अपराध क्षमा करदो ललिता ! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूं।" दीन भाव में पंकज बोला।

"क्या कह रहे हो पंकज ? तुमने किया ही क्या है, जिसके लिए क्षमा चाहते हो। मैंने तो यों ही आंखें मींच ली थीं।" डबडबाई आंख लेकर लड़खड़ाती जबान से ललिता ने कहा।

दोनों अपने भावों को जब्त कर गए। पंकज का दिल हल्का हो गया। वह प्रसन्न था कि ललिता ने उसका अपराध क्षमा कर दिया।

"कब आया बुखार ?" पंकज ने पूछा।

"कल।"

पंकज स्वयं हकीम को बुलाकर लाया। चार-पांच दिन में ललिता स्वस्थ हो गई। पंकज ने अपना पूरा समय ललिता के पास लगाया। ललिता फिर बाग से फूल लेने और गंगा पर नहाने जाने लगी। पंकज और ललिता ने अपने जीवन का नया अध्याय आरम्भ किया।

: ४ :

"मेरी बुढ़ापे की लकड़ी न तोड़ देना बाबूजी ! मैं तुम पर विश्वास करता हूं। तुम्हारे जीवन की कोई भी बात मुझसे छिपी नहीं है। मैं जानता हूं कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है। तुम्हारे जीवन के साथ ही तुम्हारी जमींदारी का स्वप्न भी चल रहा है।"

पंडितजी........."

"अच्छा तो यही होगा बेटा ! कि मैं तुम दोनों को पहले ही दूर रखता। तुम विवाहित हो। तुम्हारी स्त्री है......।" बूढा कांप रहा था। यह अनर्थ था उसकी दृष्टि में, परन्तु उसमें रोकने की शक्ति नहीं थी।

"परन्तु वह ?"

"यह मत कहो। मैं ललिता को नहीं रोक सकता। बात अब हाथों से बाहर जा चुकी है। ललिता की नाव को मंझदार में न छोड़ देना। मेरा अब कोई विश्वास नहीं; आज नहीं कल मरना ही है।" रामनाथ बोला।

"आप क्या कहने लगे पण्डितजी ! मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूं। ललिता मेरे प्राणों से भी अधिक है मेरे लिए। मैं उसे धोखा नहीं दूंगा, कभी नहीं दूंगा, आप विश्वास रखें।"

"तुम विवाह करना चाहते हो ललिता के साथ ?"

पंकज चुप रहा। इसका उत्तर उसके पास नहीं था।

"मैं कुछ नहीं कहता। तुम दोनों की इच्छा को कुचलकर मैं अपने हाथ नहीं रंगना चाहता। मैं तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता देता हूं। मैंने ललिता से भी यही बात कह दी है। परन्तु पंकज ! एक बार फिर

विचार कर देख लो। तुम लड़के हो। लड़के के जीवन की समस्या लड़की के जीवन से भिन्न होती है।"

"अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है पंडितजी! आपके उपकार को मैं......"कहता-कहता पंकज चुप हो गया।

"मेरे पास केवल ललिता ही है बाबू!"

"मैं और कुछ नहीं चाहता पंडितजी! पद्मा के पास सब-कुछ है, तभी तो उसे मेरी आवश्यकता नहीं है। मैं उसे चाहता हूँ, जिसे मेरी भी आवश्यकता हो।" पंकज ने पलकें नीची करके नम्रतपूर्वक कहा।

पंकज ने ललिता के साथ अपने विवाह का निश्चय कर लिया। ललिता के जीवन में भी एक उमंग आ गई। विवाह की तिथि निश्चित हो गई। पंकज ने तैयारियाँ करनी आरम्भ कर दीं।

पद्मा के पिता को यह सब मालूम हो गया। उन्होंने कितने ही पत्र लिखे, परन्तु पंकज ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। आखिर परेशान होकर वह स्वयं आए, परन्तु पंकज का इरादा न बदल सके।

पद्मा ने न कोई पत्र ही लिखा और न आई ही। वह मान की पुतली थी। बड़े बाप की बेटी थी। बाप जाए-तो-जाए, वह पंकज-जैसे जंगली के सामने झुकने को उद्यत नहीं थी। वह शादी करना है तो करले। पद्मा पर इसका कोई प्रभाव नहीं था। विवाह की तिथि निकट आती गई।

आज पंकज को हल्का-सा बुखार था। ललिता के मना करने पर भी वह गंगा में नहा लिया।

"मैं मना कर रही हूँ कि आप आज न नहाएँ। आपकी तबियत ठीक नहीं है। गंगा का पानी, देखते नहीं, कितना ठंडा है!"

"कोई नया पानी तो है नहीं। नहाने से तबियत साफ़ हो जाती है। फिर यह तो गंगा-जल है। सब ठीक हो जाएगा नहाने से। थोड़ा-सा ज़ुकाम है, बह जाएगा।"

आप व्यर्थ जिद करते हैं। किसीकी बात न मानने की तो आपने कसम ही खा ली है।"

"बिगड़ने लगी ज़रा-सी बात पर।" पंकज ने कहा।

"बिगड़ने की भला क्या बात है? आपकी तबियत खराब है। आज मत नहाइए। मैं फिर कहती हूं।" इतनी जिद पहले कभी ललिता ने नहीं की थी। परन्तु आज उसका मन नहीं कह रहा था कि पंकज को नहाना नहीं चाहिए।"

आखिर डुबकी लगा ही ली पंकज ने।

ललिता का बदन थरथरा उठा। वह भयभीत-सी होकर बोली—"आप जल्दी से बाहर निकल आइए।"

"ऐसा करोगी तो फिर कभी नहाने नहीं आऊँगा।"

"मत आना, परन्तु आज निकल आओ। जल्दी से कपड़े पहन लो। मैं कहती हूं, मेरा कहना मान लो।"

पंकज ने अधिक जिद नहीं की। उसे भी कँपकँपी-सी छूटने लगी थी। वह पानी से बाहर निकल आया। ललिता ने बदन पोंछने को तौलिया दे दिया।

कपड़े बदल कर दोनों ने घर की राह ली।

ललिता ने घर पहुंच कर जल्दी से खाना बनाया और पंकज के मकान की ओर चल दी। उसका मन किसी आशंका से घिरा हुआ था। पंकज ने आज बुखार में नहाकर अच्छा नहीं किया। कितनी बुरी जिद करते हैं कि मानो कहने का कोई असर ही नहीं होता!

"कहाँ जा रही हो बेटी?" रामनाथ ने पूछा।

"उन्हींकी ओर जा रही हूँ। आज उनकी तबियत ठीक नहीं है।"

"तुमने खाना भी नहीं खाया? खाना खाकर चली जाना।"

"उनकी तबियत खराब है। अभी आकर खाना खा लूंगी।" खाना कटोरदान में बन्द करके छीके पर रखते हुए कहा।

पंकज को बुखार हो गया था मामूली बात थी, कम्बल ओढ़कर लेट गया था। ललिता को देखकर बोला—

"तुम आ गईं ललिता!"

"कम्बल ओढ़ लिया मैंने पहले ही ....."

कोई बात नहीं है ललिता! जरा सर्दी-सी लगने लगी थी, इसलिए कम्बल ओढ़ लिया। हां; तुम जरा-सी चाय बना दो। चाय पीकर तबियत ठीक हो जाएगी।"

ललिता ने चाय तैयार की और एक गिलास में गरम चाय अंगोछे पर रखकर ले आई।

"बड़ी अच्छी है मेरी रानी!" पंकज ने गिलास ले लिया।

"तुलसी के पत्ते.... "

"डाल दिए हैं मैंने। काली मिर्चें भी डाल दी हैं।"

"तुम बड़ी चतुर हो।' कहते हुए पंकज के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक आए।

पंकज का दिल न जाने कितना ललिता की ओर खिंच गया। कितना अपनापन था उसमें। पंकज ने ललिता में अपनी आत्मा के दर्शन किए।

ललिता वास्तव में देवी है।—सहज प्रेम की पराकाष्ठा है। इस जीवन का मधुर मिठास भला किस रूखे-सूखे जीवन को आनन्द, उमंग और मधुरता से नहीं भर सकता!

एक पद्मा है। क्या उसने कभी इस प्रकार चाय बना कर दी? क्या उसने कभी मेरी तबियत की इस प्रकार परवाह की? वह एक धनाढ्य की कन्या है। धनवाले क्या जानें कि प्रेम किसे कहते हैं। उनमें अपनापन नहीं होता। वे हर चीज का मूल्यांकन पैसे से करते हैं। ललिता देवी है। मेरे हृदय की रानी है। पंकज का जीवन हल्का हो गया। उसे लगा कि मानो बहुत बड़ा बोझा ललिता ने उसके सिर से

उतारकर एक ओर फेंक दिया।

"आप सोचने क्या लगे? गर्म चाय पी लीजिए और तनिक मुंह ढककर लेट जाइए। पसीना आने से बदन खुल जाएगा।" पास बैठते ललिता ने कहा।

पंकज ने चाय पीनी आरम्भ कर दी।

"तुम मेरी जीवन-सहचरी हो ललिता! तुम मेरी रानी हो।" कृतज्ञता प्रकट करते हुए पंकज ने कहा।

आप व्यर्थ चाय ठंडी कर रहे हैं! इसे पीकर लेट जाइए और मुंह मत उघाड़िए। मैं यहीं बैठी हूं। कहीं बदन में दर्द हो तो दबा दूं?"

पंकज चाय पीकर लेट गया। उसने मुंह ढ़क लिया। ललिता ने धीरे-धीरे उसके हाथ-पैर दबाकर उसे सुला दिया।

फिर धीरे-से किवाड़ बन्द करके अपने घर चली आई। बर्तन साफ करके खाना खाया, परन्तु उसे खाना आज अच्छा नहीं लगा।

'कैसी तबियत है पंकज की?" रामनाथ ने पूछा।

"बुखार हो गया है।"

"बुखार!" कुछ घबराकर रामनाथ ने कहा।

"जी।"

"फिर सुबह पानी में नहा लिया होगा मूर्ख! तूने भी मना नहीं किया। गंगा का पानी बड़ा ठंडा है।"

ललिता चुप रही।

"हकीम को दिखा देना।"

"अच्छी बात है पिताजी! संध्या तक तो बुखार उतर जाएगा। तुलसी की चाय पिलाकर आई हूं। कुछ लाभ तो वह अवश्य करेगी।"

"अवश्य करेगी बेटी! ठीक हो जाएगा एक-दो दिन में। कोई चिन्ता की बात नहीं है।" साहस बधाते हुए रामनाथ बोला।

संध्या को हकीमजी आकर देख गए। कोई खास बात नहीं थी। मामूली ज्वर था। उतर जाएगा। दवा की पुड़ियाँ दे गए।

ललिता पास बैठी थी। पंकज की आँखें खुली तो बोला—"अरे! तुम अभी गई नहीं! क्या बज गया होगा ललिता?"

कुछ अधिक नहीं।"

पंकज की दृष्टि सामने टँगी घड़ी पर गई। "अरे! एक बज गया और तुम यहीं बैठी हो। पण्डितजी बाट देख रहे होंगे। चलो मैं पहूँचा आता हुँ। मुझे कुछ पता ही नहीं रहा। ऐसी नींद आई कि बस चित्त हो गया।"

"आप लेटे रहिए। मैं स्वयं चली जाऊँगी।"

"इतनी रात को?"

"चाँदनी रात है।"

"चाँदनी रात क्या रात नहीं होती?"

"मैं चली जाती हूँ, परन्तु वैसे तो...... ।"

"क्या कह आई हो पिताजी से? अच्छा, समझ गया। तो फिर जागने की अब क्या आवश्यकता है? खाट बिछाकर आराम करो। अब मेरी तबियत ठीक है।" बुखार भी मालूम देता है, छूट गया। हकीमजी की दवा बड़ी कारगर होती है। पंकज प्रसन्न था।

"बड़े अच्छे हैं बेचारे! एक बार कहने-भर गई थी कि तुरन्त उठे चले आए।"

"पिताजी के पुराने मित्र हैं ललिता!"

"अच्छा! बड़े सज्जन हैं।"

"पंकज को नींद आ गई। ललिता जागती ही रही। आज रातभर वह सो न सकी। पंकज के मकान में रातभर रहने का यह उसका पहला ही अवसर था।

: ५ :

विनोदबाबू ने जिनसे पद्मा का विशेष प्रेम था, एक ऐंग्लो-इण्डियन लड़की से अपना नाता जोड़ लिया था। मेम न सही, यह मेम-जैसी ही थी। पहले पद्मा पर प्यार था, क्योंकि वह इण्डियन होते हुए भी किसी मेम से कम न थी। अब ऐंग्लो-इण्डियन मिल गई। वह पद्मा से आगे थी। किसी मेम के मिलने पर इन नई मिस मेरी को भी स्तीफा दिया जा सकता था। तरक्की-पसन्द लोग इसी तरह आगे बढ़ते हैं। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी सीढ़ी पर क़दम रख कर आदमी प्रगति के अंतिम लक्ष्य पर पहुंचता है।

विनोदबाबू स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे। पद्मा भी इनके साथ रहकर इन्हीं-जैसा बनने का प्रयत्न करती थी, परन्तु प्रभाव उलटा ही पड़ा।

पद्मा के दूसरे मित्र मिस्टर प्रकाशबाबू थे। वह कुछ दूर-दूर की जान-पहचान पसन्द करने वाले थे। इनका रुख भी बदल गया था। विनोदबाबू जैसी स्वतन्त्रता इनके मस्तिष्क को नहीं मिली थी, इसीलिए यह शादी के चक्कर में फँस गए और नई पत्नी ने उन पर ऐसा टोना किया कि वह उसके ही हो रहे। सब क्लब इत्यादि छूट गए। पुराने लगाव और चिपकाव, खिंचाव और आकर्षण, सब समाप्त हो गए। नई पत्नी क्या लाए कि भँभीरी के समान हर समय उसके ही इर्द-गिर्द चक्कर लगाने में उनका अधिकांश समय निकलने लगा। उनकी फरमाइशें ही इतनी थीं कि उनसे समय निकलना कठिन था। बड़ा बिजी प्रोग्राम बन गया था उनका।

मिस्टर श्याम, मिस्टर अहसान, मिस्टर चेटर्जी, मिस्टर खेर, मिस्टर प्रकाश इत्यादि से काफी दिन हुए पद्मा का नाता समाप्त हो चुका था।

उनमें से कुछ तो कलकत्ता ही छोड़ गए थे और कुछ अपने कामों में लग गए थे। उनके पास अब मटरगश्ती के लिए समय नहीं था। बार और क्लबों में कभी चले गए तो चले गए। नित्य का सिलसिला बन्द हो चुका था।

पद्मा के पास कोई काम नहीं था। उसका जीवन अकेला हो गया। और अकेले रहने की उसे बान नहीं थी। उसका आज तक का जीवन संगी-साथियों का जीवन था। एकदम एकाकी होकर उसका मन उदास रहने लगा।

इस एकाकीपन में उसे एक दिन बैठे हुए पंकज की याद आ गई। पहले तीन पत्र दोस्तों के बीच से लिखे थे। यह पत्र उसने स्वयं लिखने का विचार किया। उसने चाहा कि वह अपनी वास्तविकता को उस पत्र में उंडेल दे।

बहुत लम्बा खत लिखा। कितनी ही जगह उसमें अपनी त्रुटियों की क्षमा-याचना का। लिखकर पढ़ना आरम्भ किया तो एक स्थान पर अपनी क्षमा-याचना पर उसके आत्मसम्मान को ठेस लगी और उसने पत्र फाड़ कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया।

फिर सोचने लगी, "मैं जीवन-भर अकेली ही रह सकती हूं, परन्तु आत्मसम्मान को हाथ से नहीं जाने दे सकती। ये पुरुष स्त्रियों को कुछ समझते ही नहीं। माफ़ी मांगना क्या स्त्रियों के ही भाग्य में लिखा है? मैं अब कोई पत्र नहीं लिखूंगी पंकज को।"

इसी प्रकार विचारते हुए उसे ललिता का ध्यान आ गया। उसके नेत्र लाल हो गए। बोली—"ललिता ही इस समय मेरे मार्ग का कांटा है। इस कांटे को मैं काटकर छोड़ूंगी—मैं इसका सर्वनाश करके ही दम लूंगी। मुझे अपने पैरों में रौंदकर यह मेरी छाती पर अपना आसन जमाना चाहती है। एक विवाहित पुरुष से प्यार करने का उसे क्या अधिकार है? उसने क्यों मेरे पति को अपने जाल में फंसाया?

क्या मेरे जाने पर भी वह.... पिताजी का उन्होंने अपमान किया। मेरा अपमान करने में ही फिर उनका क्या जाता है ? मैं अपमान सहन नहीं कर सकती। यह प्राण अपमान सहन करने से पूर्व ही इस संसार से विदा हो जाएंगे।" पद्मा का मन खिन्न हो उठा। उसकी आंखों में आंसू भर आए। उसने आज जब चारों ओर दृष्टि दौड़ाई तो उसे अपना जीवन सूना-सूना दिखाई दिया।

अब जीवन में वह आनन्द नहीं रहा था जिसका स्वप्न उसने विनोद का पत्र पाकर लोकपुर में देखा था। उन्हीं दिनों एक दिन विनोद पद्मा के घर पर आया।

"आज इधर कैसे भूल पड़े ?" पद्मा ने कहा।

"तुमसे मिलने को जी चाहा तो चला आया ?" विनोद ने बेतकल्लुफ़ी से कहा।

"मेरी ने आपके आने में कोई बाधा नहीं डाली ?"

"क्यों ?"

"यों ही पूछ रही हूं।" पद्मा ने कहा।

"उसे बाधा डालने का कोई अधिकार नही है। मैं भी उसके किसी कार्यक्रम में कोई बाधा नहीं डालता। वह हर काम के लिए स्वतन्त्र है। जहां उसका जी चाहे, वह जा सकती है।" विनोद ने मुस्कराते हुए कहा।

"परन्तु ये बातें तो हमारी हुई थीं।' पद्मा ने समझा था कि ये बातें होने के पश्चात् उन पर मोहर लग गई थी और फिर वे अन्य किसीसे नहीं हो सकती थीं।

"परन्तु अब ?" पद्मा ने फिर पूछा।

"अब बिलकुल स्वतन्त्रता है।" विनोद ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"इसका मतलब ?" पद्मा ने पूछा।

"मतलब यह कि आज पांच दिन से वह लापता है।"

"इसीलिए आप इधर चले आए।" पद्मा बोली।

"ऐसा ही समझ लो।"

"तुम बड़े बुरे हो विनोद!" पद्मा ने कहा।

"कोई विशेष बात तुमने नहीं कही पद्मा! ऐसा तो सभी लड़कियाँ कहती हैं। प्रदर्शिनी चलोगी? आज ही प्रारम्भ हुई है।"

"चलती हूँ।"

पद्मा तैयार हो गई। मोटर से दोनों प्रदर्शिनी के द्वार पर पहुँचे और टिकट लेकर अन्दर चले गए।

"देख रहे हो वह कौन है?" पद्मा ने कहा।

"मेरी।" विनोद ने कहा।

"बुला लो उसे!"

"नहीं, यह ठीक नहीं है।" मैंने उसे स्वतन्त्रता दे रखी है। वह जहाँ चाहे घूमे; उसका जब जी चाहेगा, आ जाएगी। चलो हम सर्कस की ओर चलते हैं।" दोनों उसी ओर घूम गए।

विचित्र आदमी हो विनोद!" पद्मा ने आश्चर्य से कहा।

ये सर्कस की ओर गए तो मेरी भी वहीं जा पहुँची। मेरी के साथी को देख कर पद्मा ने कहा, "मेरी के साथ मिस्टर चेटर्जी जा रहे हैं। बड़े हजरत हैं भई!" पद्मा मुस्करा दी। विनोद के लिए यह पुरानी बात थी। वह जानता था कि मेरी दो-चार दिन में अपने आप उसके पास आ जाएगी।

"तुम बड़ी बावली हो पद्मा! व्यर्थ बातों से मुझे परेशान करना चाहती हो। प्रदर्शिनी देखने आए हैं या चेटर्जी और उसके साथ मेरी को देखने।"

दोनों और आगे बढ़े और सर्कस के टिकट-घर पर पहुँच गए। मेरी भी वहीं आ गई और विनोद को देखकर बड़े तपाक से बोली, "मिस्टर विनोद! इधर कई दिन से मिस्टर चेटर्जी ने ऐसा फाँसा है

कि आना ही नहीं हुआ।' उसे कोई संकोच नहीं हुआ इन शब्दों के कहने में। पद्मा चाहे कितने ही स्वतन्त्र विचारों की थी, परन्तु इतने स्पष्ट शब्द उसकी जबान से निकलने असम्भव थे। यहीं पर वह आग में मेरी से पीछे रह जाती थी।

"कोई बात नहीं। कौन जाने मिस्टर चेटर्जी ने आपको फाँसा है या आपने इन्हें फाँसा है।" तपाक के साथ विनोद ने उत्तर दिया।

चारों खिलखिला कर हँस पड़े।

"विनोद! तुम भी हो मजेदार आदमी। चेटर्जी ने मुस्कराते हुए कहा। फिर पद्मा की ओर देखकर कहा, अरे "पद्मा! आप भी यहीं है। सुना था कि आप कलकत्ता से चली गई हैं। क्या यह बात गलत थी?" चेटर्जी ने प्रश्न किया।

"जी नहीं, ठीक ही था। परन्तु विनोदबाबू की कृपा से फिर कलकत्ता आना पड़ा।" पद्मा ने उत्तर दिया।

'विनोद बाबू बड़े भाग्यशाली हैं?" चेटर्जी ने मुस्कराकर कहा।

"क्यों भाई ऐसी क्या बात है?" विनोद ने पूछा।

"अरे भाई! तुम पर पद्मादेवी की पहले से नजर है।"

"परन्तु आजकल पद्मादेवी हमसे नाराज हैं।"

"क्यों पद्मा देवी! क्या यह सत्य है?" मिस्टर चेटर्जी ने सिगरेट का धुआँ फेंकते हुए पूछा।

"मैं भला क्या कह सकती हूँ? विनोदबाबू जो चाहें, कहें।" पद्मा ने तीखे व्यंग से कहा।

दूसरे दिन पद्मा को प्रदर्शिनी अकेले ही जाना पड़ा।

प्रदर्शिनी से लौट रही थी तो द्वार पर मिस्टर विनोद मेरी और एक मेम साहब के साथ मिल गए। वे पद्मा को देखते ही कह उठे, "हलो पद्मा! तुम्हें आज अकेले ही प्रदर्शिनी जाना पड़ा।"

"मैं मिस नहीं हूं विनोदबाबू!"

"भूल गया, क्षमा कीजिए ! मिसेज़ पंकज ! आज आपको मिस्टर चेटर्जी नहीं मिले ?" विनोद ने प्रश्न किया।

"अरे ! मिस्टर चेटर्जी से तो मुझे भी मिलना था।" मेरी ने कहा और वह तुरन्त विनोद का साथ छोड़ कर अलग खड़ी हो गई।

पद्मा अपनी कार पर जा बैठी और विनोद ने सिगरेट-केस जेब से निकाल कर एक सिगरेट मेम साहब को पेश की। पद्मा ने विनोद की बात का कोई उत्तर नहीं दिया।

पद्मा घर आकर अपने कमरे में चली गई। पहले दिन रात-भर उसने विचार किया था, "कितना सुखी जीवन होता है स्वतन्त्रता का भी !"

विनोदबाबू कितने सुखी हैं। उन्हें दुनियां में किसी की चिन्ता नहीं। अपनी भी चिन्ता नहीं। जहां जी चाहता है, जाते हैं। यदि मेरा जीवन भी इतना ही स्वतन्त्र हो जाए तो कैसा अच्छा रहे? मिस्टर चेटर्जी और मेरी दोनों ही मजे में हैं। किसीका किसीको मोह नहीं। जब चाहें साथ हो सकते हैं और जब चाहें छूट सकता है। कितना सुन्दर जीवन है?"

परन्तु आज विनोद के मुख से मिसेज़ पंकज सुनकर पद्मा का मुंह लटक गया था। वह रुआंसी सी हो गई थी। उसके शरीर में एक प्रकार की न जाने कैसी सिहरन-सी आ गई थी और उसे लगा था कि मानो विनोद ने उसका उपहास किया। एक असभ्य व्यक्ति की पत्नी कहलाना भी कितनी बड़ी अपमानजनक बात है। पद्मा को अपने माता-पिता की, की भूल पर क्रोध आया और फिर वह अचानक ही एक दम ऐसे शांत हो गई, मानो उसे पाला मार गया था। उसके अन्दर का जीवन समाप्त-सा हो गया। वह सोचने लगी, "वह क्या है ? पंकज क्या है ?" पंकज से उसका क्या सम्बन्ध ?

: ६ :

पद्मा अब जीवन का कोई साथी खोजना चाहती थी। विनोद उसका साथी नहीं बन सकता, यह निश्चय हो चुका था। विनोद-जैसी स्वतन्त्रता पद्मा में नहीं आ सकती। यह जीवन पद्मा के लिए कठिन हो गया।

आज एक बार फिर पंकज की ओर पद्मा की दृष्टि गई। इस दृष्टि में थोड़ा-सा प्रेम, थोड़ा-सा मोह, थोड़ी-सी श्रद्धा और थोड़ी-सी आवश्यकता थी। अनेकों भावनाओं के सम्मिलित विचार से आज पद्मा ने पंकज को याद किया। आज उसने अपने जीवन के एक भूलाए हुए कोने में झांका।

पद्मा की स्वतन्त्रता ने किसी को भी क्षमा करना नहीं सीखा था। वह स्वतन्त्रता, जो पद्मा अपने लिए चाहती थी, उसीकी थोड़ी-सी छटा पंकज और ललिता के जीवन में देखकर वह सहन नहीं कर सकती थी।

लोकनगर जाने की प्रबल इच्छा के मार्ग में दो रुकावटें थीं। एक अपने आत्माभिमान पर लगानेवाली ठेस की आशंका और दूसरी ललिता दोनों को ही वह नहीं चाहती थी। दोनों से वह बहुत द्वेष करती थी।

तभी द्वार खुला और विनोदबाबू सामने आकर कोच पर बैठ गए। कुछ देर वे दोनों चुपचाप बैठे रहे, परन्तु विनोद अधिक देर चुप नहीं रह सका।

"मैं तुमसे एक बात पूछने आया हूं पद्मा! तुम्हारे आज के उत्तर में मेरे जीवन का निर्णय है। मैं अब और अधिक सहन नहीं कर सकूंगा।" वह इस समय बहुत ही गम्भीर था। वैसी गम्भीरता पहले कभी पद्मा ने उसमें नहीं देखी थी। न आज मुस्कराहट थी, न मस्ती; न जीवन की लचक और न ही वह अल्हड़पन, जिसने पद्मा को प्रथम

भार आरोपित किया था। आज की विनोद की दशा को देखकर उसके गत जीवन का नाट्य अपने असली रूप में पद्मा के सामने आ गया था। पद्मा चकित-सी रह गई उसका यह रूप देखकर।

पद्मा बोली, "कहिए विनोदबाबू ! मैंने तो कभी भी आपको रुष्ट करने का कोई कार्य नहीं किया। मैंने तो सर्वदा ही आपके जीवन को अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न किया है। मैंने सर्वदा यही चाहा है कि किसी प्रकार मैं आपके .. ।" पद्मा कहती-कहती रुक गई।

"मैं पूछने आया हूं पद्मा कि क्या तुम मेरे साथ चलने को तैयार हो ? मैं 'हाँ' या 'ना' में उत्तर चाहता हूँ।"

पद्मा हक्की-बक्की-सी रह गई। कहाँ, किस लिए, कब तक को ? इत्यादि कुछ भी नहीं। ऐसा प्रश्न तो विनोद ने कभी नहीं किया।

"क्या मैं पहले नहीं पूछ सकती कि हमको कहाँ जाना होगा विनोदबाबू ! किस लिए जाना होगा और कब तक के लिए जाना होगा ?"

"मैं इस स्वतन्त्रता से मुक्त होना चाहता हूं पद्मा ! मैं तुमको केवल अपने लिए चाहता हूँ, केवल अपने लिए। इसलिए मैं आवश्यकता नहीं समझता कि तुम्हें बताऊँ हमें कहाँ जाना होगा और कब तक के लिए जाना होगा ?"

"इसका मतलब है कि .. ...।"

"हाँ, वहाँ स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। हम दोनों प्रेम-डोर में नहीं बँध सकते क्या पद्मा ? बोलो, मेरे प्रश्न का उत्तर दो।

मैंने तुमको प्यार किया, कितना, यह कहने की आवश्यकता नहीं। तुम शायद नहीं जानतीं कि मैंने स्वतन्त्रता का अभिनय केवल तुम्हें पाने के लिए किया, केवल तुम्हें अपना बनाने के लिए किया।"

"स्वतन्त्रता का अभिनय!" पद्मा ने कई बार मन में दुहराया। यह क्या कह रहे हैं आज विनोदबाबू ? वह नहीं समझ पाई कि अभिनय

करने वाला यह कुशल नट कहीं अब भी तो अभिनय ही नहीं कर रहा था। यदि उसका यह भी अभिनय ही हुआ तो पद्मा के जीवन की क्या गति होगी? पद्मा सिहर उठी।

क्या वास्तव में विनोदबाबू का अभी तक का जीवन स्वप्निल अभिनय मात्र ही था? क्या कहीं विनोद के जीवन में स्थिर रहने का स्थान नहीं है? क्या यह मेरे जीवन को सुखी बना सकेंगे? कहीं मेरी जीवन-नौका को किसी तूफान में ले जाकर तो यह महाशय नहीं छोड़ देंगे?"

पद्मा का हृदय विचलित हो उठा है।

"बोलो पद्मा! मैं 'हां' या 'ना' में उत्तर चाहता हूँ। मैं अपनी स्वतन्त्रता के साथ तुम्हारी स्वतन्त्रता को भी समाप्त कर देना चाहता हूँ।" गम्भीरतापूर्वक विनोद ने कहा।

पद्मा कभी विनोद को 'ना' में उत्तर नहीं दे पाई थी। विनोद को वह प्रेम करती थी, इस बात को कहने में वह अपने पति के सामने भी नहीं हिचकिचाई थी।

पंकज हृदय थामकर रह गया था उस दिन। उसकी आंखों से आँसू बरस-बरस पड़े थे।

'हाँ' निकल गया पद्मा के मुख से। विनोद नाच उठा। "अभी, इसी समय......चलो पद्मा, हम बम्बई चल रहे हैं। पन्द्रह दिन में लौट कर आएंगे। मिस्टर चेटर्जी और मेरी भी हमारे साथ चल रहे हैं?"

पद्मा दंग रह गई यह सुनकर। उसकी आँखों का स्वप्न आँखों में ही घुल गया। उसके पैर अपना स्थान न छोड़ सके। प्रस्तर-मूर्ति की तरह पद्मा एक इंच भी न हिल सकी। उसने क्या सोच कर 'हाँ' की थी! जीवन की साधना तफ़री का सामान बनना चाहती थी।

"क्या विचारने लगीं पद्मा?" विनोद ने पूछा।

"मैं नहीं जाऊँगी विनोदबाबू, आप जा सकते हैं।" पद्मा की यह

पहली 'ना' थी विनोद के लिए और विनोद जड़वत् रह गया।

"तुम मेरा दिल तोड़ रही हो पद्मा!" विनोद ने कहा।

"कुछ भी सही, परन्तु मैं नहीं जा रही हूं, इतना निश्चय है। आप जा सकते हैं" पद्मा की आंखें डबडबा आईं। उसे अब यह निश्चय हो गया कि जीवन में उसका कोई नहीं है। वह अकेली है। विनोद उसके जीवन से खिलवाड़ करना चाहता है।

विनोदबाबू पद्मा को एक तफरी की सामग्री समझते थे। चार दिन की चहल-पहल समझते थे। मेमों का डुप्लिकेट समझते थे। किसी कमी को पद्मा से पूरी करना चाहते थे। संक्षेप में यही धारणा बनी पद्मा की।

पुरानी चीज़ें विनोदबाबू को पसंद नहीं थीं। नई न मिलने पर पुरानी का तिरस्कार वह नहीं करते थे। अवसर पड़ने पर प्रेम-प्रदर्शन करना खूब जानते थे। आवश्यकता पड़ने पर आंखों से सहानुभूति के दो-चार आंसू गिराने में भी दक्ष थे। अभिनय-कला के दक्ष कलाकार विनोदबाबू इसी प्रकार जीवन-अभिनय में गुलछर्रे उड़ा रहे थे, मौजें ले रहे थे जवानी की।

परन्तु आज उनके आंसुओं से पद्मा का दिल न पिघला।

वह अपना-सा मुंह लेकर लौट गए। किसी नई जगह से इस प्रकार लौटते हुए शायद विनोदबाबू को लज्जा न आती, परन्तु पद्मा के मकान से यों जाते हुए वह ज़मीन में गड़े जा रहे थे। उनके पैरों के जूते इतने भारी हो गए थे कि पैर उठ नहीं रहे थे। उन्हें आगे बढ़ना कठिन हो रहा था।

वह एक बार फिर साहस करके पद्मा के सामने पहुंचे और पद्मा से अपने साथ चलने के लिए विनय की।

"नहीं चलोगी पद्मा। मैं अन्तिम बार पूछने आया हूं।" इतना कहते हुए उनकी आंखों से आंसू बरस पड़े। आखें बार-बार मींचकर

विनोद बाबू इस प्रकार बोल रहे थे कि मानों किसी अथाह पीड़ा का अनुभव कर रहे हों। पद्मा की 'ना' ने मानो उसका जीवन-स्वप्न तोड़ दिया था।

"नहीं!" कहकर पद्मा रो पड़ी।

विनोद बाबू चले गए। आगे कुछ कहने का साहस उनमें नहीं था।

तभी नौकर ने कमरे के बाहर से कहा,"पद्मा रानी! आपका एक पत्र आया है।"

पद्मा सँभल कर बोली, "मेरा पत्र!"

पद्मा ने पत्र कांपते हुए हाथों से खोला। पत्र लोकनगर से आया था, परन्तु वह पंकज का न होकर ललिता का था। पत्र में लिखा था—

"बड़ी बहन पद्मादेवी!

मैं तुम्हारे मार्ग का काँटा बन कर नहीं आई हूँ, बहन! मैं इनको प्रेम करती हूँ, इसे मैं नहीं छिपा सकती। यह भी तुमसे तंग आकर मुझ पर दया-दृष्टि रखने लगे हैं, यह बात भी सच है।

मैं तुम्हारा दिल नहीं तोड़ना चाहती। तुम्हारी वस्तु पर अधिकार भी नहीं करना चाहती। तुम्हारी चीज, तुम्हारी है, और वह तुम्हारी ही रहेगी।

मैं तो केवल इतनी भिक्षा माँगती हूँ, यदि तुम दे सको तो, कि तुम चली आओ। मैं इनके साथ अपनी बड़ी बहन के चरणों में थोड़ा-सा स्थान चाहती हूँ। दोनों की सेवा करने के लिए यह स्थान तुम दे सकोगी तो अनुगृहीत हूँगी, वैसे कोई जोर नहीं है मेरा।

यह आज दस दिन से वह बीमार हैं। कुछ नहीं खाया है। कई बार तुम्हारी याद की है। इनके और मेरें पास एक भी पैसा नहीं है कि डाक्टर को बुला सकूँ।

आखिर यह तुम्हारे स्वामी हैं। दया करो बहन! एक बार आओ

और अपने जीवन-धन की रक्षा करो।

पत्र को तार समझना।

ललिता"

पद्मा का अभिमानपूर्ण सिर गर्व से ऊँचा उठ गया। पत्र का पहला भाग पढ़कर कुछ सहानुभूति अवश्य हुई, परन्तु अन्तिम भाग ने पासा ही पलट दिया, पद्मा की विचारधारा बदल दी।

"मैं खूब समझती हूँ इन चालों को। आज पैसे के लिए मुझे याद किया है। बड़ी बहन बनाया है। कदापि नहीं, मैं ललिता तुझे नहीं छोड़ सकती। तू मेरे जीवन की......।

मैं नहीं जाना चाहती। नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। मेरा वहाँ कोई नहीं है।

यह दुनियाँ मतलब की है। आज मतलब के लिए मुझे याद किया है। मुझे दुनियाँ में किसीका विश्वास नहीं।"

पद्मा के मन में अनेकों विचार आए और चले गए। पद्मा चकरा गई विचारों में।

पद्मा के पिताजी ने पूछा, "बेटी! पत्र लोकनगर से आया मालूम देता है।"

"जी पिताजी!"

"कोई खास बात है क्या?"

"कोई खास बात नहीं है।" गम्भीरतापूर्वक पद्मा ने कहा।

"क्या शादी करने का पंकज ने निश्चय कर लिया है बेटी? तुम एक बार हो आओ। शायद तुम्हारे कहने से मान जाएँ।"

"मुझे आवश्यकता नहीं है पिताजी! दुनियाँ में सभीका विवाह नहीं होता। मेरा विवाह हुआ-न-हुआ बराबर है। पता नहीं आपको विवाह करने की ऐसी क्या जल्दी थी कि इतनी छोटी अवस्था में ही मेरी गरदन विवाह के फंदे में फाँस दी।

मैं इस विषय में कोई बात नहीं करना चाहती।"

"पंकज के पिताजी मेरे मित्र थे। साधारण व्यक्ति नहीं थे वह और आज भी पंकज सँभल जाए तो सब कुछ है। भाग्य की बात है बेटी!"

"अपने किए को क्यों व्यर्थ भाग्य पर टालते हो पिताजी!" लम्बी साँस खींचकर पद्मा ने कहा।

"पद्मा, तू यदि एक बार लोकनगर हो आए तो क्या हानि है? पति के सामने जाने से सिर नीचा नहीं होता। आत्मसम्मान की भी कोई सीमा होती है।"

"मुझे इसमें हानि मालूम देती है पिताजी! मैं लोकनगर नहीं जाना चाहती।

"क्या वह एक पत्र भी मुझे नहीं लिख सकते?" कहती-कहती पद्मा रुक गई। भावुकतावश उसके नेत्रों में आँसू भर आए।

"फिर किसका पत्र है यह?" पद्मा के पिता ने पूछा।

"उसी ललिता का जिसके साथ विवाह करने की तैयारियाँ हो रही है। सब चालबाज़ी की बातें हैं। पन्द्रह दिन पश्चात् विवाह होने जा रहा है। सब कुछ निश्चय हो चुका है और पत्र में लिखा है कि वह बीमार हैं। जल्दी आओ, रुपए की आवश्यकता है।

यह सब धोखा तो नहीं है क्या है? हमारा पैसा उनकी शादी में खर्च हो, बहुत बुद्धिमान हैं वह।" पद्मा के क्रोध ने उसे अधिक नहीं बोलने दिया।

"ऐसी बात नहीं होगी पद्मा! पंकज धोखेबाज़ लड़का नहीं है। यदि वह बीमार न होता तो स्वयं ही पत्र लिखता।"

"बस रहने दीजिए पिताजी! मुझे किसीकी खुशामद करने की आवश्यकता नहीं है।

उनके साथ मेरा जीवन नहीं चलेगा। उन्हें विवाह करना है तो करें; मुझे विवाह की आवश्यकता नहीं।"

"तू बड़ी बावली है बेटी ! भला कहीं ऐसा भी होना है ?"

"आप व्यर्थ के लिए परेशान न हों पिताजी ? मैं लोकनगर नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी । मैं इस पत्र का कोई उत्तर नहीं देना चाहती ।" पद्मा ने दृढ़तापूर्वक कहा ।

पद्मा के पिताजी बाहर चले गए। पद्मा अकेली बैठी रह गई। क्रोध से अभी तक उसकी आँखें अंगार हो रही थीं। वह अपने मन में सोचने लगी,"चाहते होंगे कि मेरे जेवर नई बहू को चढ़ाएँ, इधर-उधर के खर्च के लिए रुपया भी मुझी से ऐंठ लें। खूब मजाक रहा यह भी !

मुझे आवश्यकता ही क्या है वहाँ जाने की ? मेरा जीवन उनके ऊपर आश्रित नहीं है ।"

इन्हीं विचारों में वह मग्न थी कि मिस्टर चेटर्जी सामने आकर खड़े हो गए ।

"पद्मादेवी ! तुम भी बिलकुल अजीब हो । इतना अँधेरा हो गया और आपने प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं समझी ।

"चलो, सिनेमा चलें पद्मादेवी !"

"मैं सिनेमा नहीं जाऊँगी । मेरी तबियत आज ठीक नहीं है !" पद्मा ने उत्तर दिया ।

"याचकों को निराश करना आपने कब से सीख लिया ? मैं तो बड़ी आशा लेकर आया था आपके पास ।"

"निराशा की बात नहीं । आज तबियत ख़राब है । मैं नहीं जा सकूँगी, बिल्कुल नहीं ।" दृढ़ता के साथ पद्मा ने कहा ।

तबियत तो सिनेमा चलने से ठीक हो जाएगी । वहाँ विनोद बाबू और मिस मेरी भी मिलेंगे ।"

"मेरी किसीसे मिलने की इच्छा नहीं है । आपको देर हो रही है । कहिए तो कार में आपको पहुँचवा दूं सिनेमा तक ।"

"थैंक्यू ! कार मेरे पास भी है ।" चेटर्जी ने कहा ।

"क्षमा कीजिए आज के कष्ट के लिए।"

"फिर मिलना नहीं हो सकेगा ..."

"अच्छा ! आप बम्बई जा रहे हैं। परन्तु पन्द्रह दिन में लौट तो आइएगा न !"

"कौन जाने ?" गरदन घुमाकर चेटर्जी बोले।

"क्यों ?"

"मेरी का विलायत जाने का विचार है। हमें ही सी-ऑफ़ करने विनोद बाबू जा रहे हैं। इसीलिए सोचा कि चलूँ अन्तिम भेंट कर चलूँ आपसे।"

"गुड बाई।" कहकर चेटर्जी चलने को ही थे कि पद्मा ने सोचा, "यह आज जा रहे हैं। पता नहीं फिर कब लौटें। न जाने कितनी आशा लेकर आए होंगे ? सिनेमा जाने से शायद मेरा जी भी कुछ बदल जाए। यहाँ तबियत नहीं लग रही है।"

"तो आप निश्चित रूप से जा रहे हैं ?"

"अभी तक तो निश्चित ही है।"

"चलिए, मैं चलती हूँ सिनेमा।"

"ओह गुड ! गुड ! आप कितनी अच्छी हैं पद्मादेवी ! कितनी सुन्दर हैं ! कितनी मनमोहक हैं, मैं कह नहीं सकता !' जाने क्या-क्या पद्मा की प्रशंसा में कहते ही चले गए मिस्टर चेटर्जी।

"बस रहने दो चेटर्जी, मुझ-सी सुन्दर आपके लिए न जाने कितनी हैं !" पद्मा ने कहा।

"ये बातें न किया करो पद्मादेवी ! मैंने कितनी ही बार तुमसे कहा है......।"

"बस-बस, रहने दो। चलो, देर हो रही है।"

दोनों कार में जाकर बैठ गए।

"मैं आज कह कर ही रहूँगा पद्मादेवी ! तुम मेरे हृदय को नहीं

पहचानतीं। तुम मेरे और विनोद—दोनों के साथ नहीं रह सकतीं। एक को तुम्हें छोड़ना ही होगा।"

"क्या कह रहे हैं आप ? आप विलायत जा रहे हैं। वहाँ न जाने कितनी मेमें आपको मिलेंगी ?"

"नहीं पद्मा।"

"अच्छा रहने भी दो......।"

"समझ गया, तुम विनोद को नहीं छोड़ सकतीं। वह तुम्हारे जीवन में......।"

"मैं मना कर चुकी हूँ कि विनोद का नाम मत लो मेरे सामने...।"

कार सिनेमा पर रुकी, सामने विनोद बाबू और मेरी खड़े थे।

"आप भी आखिर चली ही आईं पद्मा देवी ?" एक गहरी साँस लेकर विनोद ने कहा।

"जी !" सिर नीचा-सा करके पद्मा ने उत्तर दिया।

"अच्छा ही किया आपने।" और चारों सिनेमा-हॉल में चले गए।

: ७ :

"तुमने पत्र ही आखिर क्यों लिखा ललिता ? मुझे उसके रुपए की आवश्यकता नहीं। मुझे उसकी भी आवश्यकता नहीं। तुम नहीं पहचान सकीं ललिता अभी पद्मा को।"

"वह अवश्य आएँगी पंकज ! मेरा मन कहता है कि वह अवश्य आएँगी।" ललिता ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"वह आएँगी और अवश्य आएँगी, परन्तु मेरे मरने के पश्चात्।"

"यह क्या कह रहे हैं आप ?" ललिता अधीर हो उठी। उसका

तमाम बदन काँप उठा। उसके नेत्रों में आँसू भर आए।

"बावली !" ललिता का हाथ अपनी ओर खींचते हुए पंकज ने कहा। "यह तो मैंने योंही कह दिया। मैं अब बिलकुल ठीक हूँ।" ललिता को धैर्य बँधाते हुए पंकज ने कहा।

"जब तुम मेरे पास हो तो मौत की क्या सामर्थ्य हैं जो मेरा कुछ बिगाड़ सके ?" पंकज बोला।

ललिता को धैर्य नहीं बँधा। उसका हृदय काँपता ही रहा। "ऐसी बात पंकज के मुख से निकली ही क्यों ? मेरा जीवन नष्ट न कर देना, भगवान् ! मैं निराश्रिता हो जाऊँगी, मैं कहाँ जाऊँगी, किधर जाऊँगी?" ललिता के तमाम बदन में सिहरन हो उठी। उसकी आँखों के सामने अँधकार छाता चला जा रहा था। उसे लग रहा था, उसके शरीर की शक्ति क्षीण होने लगी।

"बड़ी बावली है ललिता ! कल हकीमजी जो दवा दे गए थे, वह बहुत अच्छी थी। उसने मेरा आधा बुखार दूर कर दिया। मुस्कराने का प्रयास करते हुए पंकज ने पीड़ा को दबाते हुए कहा।

"परन्तु आज पन्द्रह दिन हो गए और आपका बुखार नहीं टूटा। आप तो योंही कहते रहते हैं कि अब मेरी तबियत ठीक है। जानो कभी तबियत खराब ही नहीं हुई। देह में तनिक भी शक्ति नहीं रही और आप कहते हैं कि तबियत ठीक हो रही है। भयातुर ललिता ने कहा। उसकी आँखों में आँसू थे और वह किसी भावी आशंका से काँप रही थी। बोली, "अब आप बातें न कीजिए। सो जाइए। नई दवा से कल आपका बुखार अवश्य उतर जाएगा।"

पंकज को न जाने क्यों आज यह विश्वास हो चुका था कि यह बुखार नहीं उतरेगा। अनमने भाव से उसने कहा, "हाँ-हाँ, सो जाऊँगा। परन्तु तुम मुझे छोड़कर कहीं जाना नहीं।"

"ऐसी बातें क्यों कह रहे हैं आप ? चुप होकर सो जाइए।"

ललिता ने कहा।

पंकज मुँह ढककर सोने का प्रयास करने लगा। ललिता बैठी रही और पंकज मुँह ढाँपे लेटा रहा। थोड़ी देर बाद पंकज ने फिर मुँह उघाड़ लिया। उसे नींद नहीं आ रही थी।

"आप कोई बात नहीं सुनते। यही तो खराबी है। उस दिन यदि गंगा में न नहाते तो शायद यह बुखार इतना न बढ़ता।" गम्भीरता-पूर्वक ललिता ने कहा।

ललिता की इस बात को सुनकर पंकज मुँह ढककर लेट गया। कुछ देर चुपचाप पड़ा रहा, परन्तु नींद न आई। पंकज ने फिर मुँह उघाड़ लिया, बोला—"ललिता! कलम-दवात लाओ।"

"क्यों?"

"यह काम क्या सुबह नहीं हो सकता? इस समय आप सो जाते तो अच्छा होता हकीमजी ने दवा दी है। उन्होंने कहा था कि कल तक अवश्य बुखार उतर जाएगा। यह बदपरहेज़ी ठीक नहीं है।" ललिता ने गिड़गिड़ाकर कहा।

पंकज न सो सका।

"ललिता! नींद नहीं आ रही मुझे। इस समय तुम जो मैं कह रहा हूँ, उसे करो। तुम्हारा उपकार मानूंगा।"

"यह क्या कहने लगे आप? मैं अभी कलम दवात ले आती हूँ।"

ललिता कागज, कलम और दवात ले आई। "कहिए क्या लिखना है?"

"एक पत्र पद्मा को मेरी ओर से आने को लिख दो। लिखना तुरन्त चली आए, यदि वह मुझे देखना चाहती हैं तो।"

ललिता ने पत्र लिख दिया। पद्मा को मिला भी होगा, परन्तु आई नहीं।

कई दिन हो गए। पंकज की दशा अच्छी होने के बजाय बराबर

खराब ही होती गई। ललिता की दिन-रात की सेवा निष्फल सिद्ध हुई। एक दिन पंकज गम्भीर होकर ललिता से बोला, "ललिता! मेरे पास बैठ जाओ।"

ललिता बैठ गई।

'ललिता! मैंने तुम्हारा जीवन नष्ट कर दिया। मुझे लग रहा है कि मैं जीवन की आशा व्यर्थ कर रहा हूँ।"

"नहीं-नहीं, ये बातें मैं सुनना नहीं चाहती। आप आराम से लेट जाइए।" ललिता ने रोते हुए कहा।

"नहीं ललिता! अब छिपाना व्यर्थ है। हकीमजी ने स्पष्ट कह दिया है। मेरे जीवन की अब कोई आशा नहीं है। आज से हमारे विवाह के सात दिन हैं। यदि जीवित रहा तो विवाह अवश्य होगा।"

"ललिता का विवाह तो कभी का हो चुका। आप भूल रहे हैं प्राणनाथ! यह जीवन आपके चरणों में अर्पित कर चुकी। रस्म अदा करने की कोई आवश्यकता नहीं।" गम्भीरतापूर्वक ललिता ने कहा।

"नहीं ललिता! यदि मैं तब तक जीवित रहा तो वह अवश्य होगा।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

"मैं तुम्हारे लिए केवल अपना प्यार, अपनी स्मृति के साथ छोड़ कर जा रहा हूं ललिता! और कुछ नहीं है मेरे पास।"

ललिता के कान बहरे हो चुके थे। वह सुनना नहीं चाहती थी और सुन भी नहीं पा रही थी। उसका साँस घुट रहा था। उसकी आँखों के सम्मुख अन्धकार छा गया था।

वह धीरे-से मकान से बाहर हो गई। पंकज अपनी रजाई में मुँह ढककर लेटा रहा।

पद्मा से पंकज एक बार मिलना चाहता था। वह अपने को दोषी समझता था, परन्तु पद्मा से कम। फिर भी वह सभी दोष अपने सिर

लेने को तैयार था। उसमें शक्ति होती, तो वह स्वयं कलकत्ता जाता, परन्तु अब यह विचार व्यर्थ था।

पद्मा की प्रतीक्षा की पंकज ने, वह नहीं आई।

ललिता आज जी खोलकर रोई। कितनी ही देर तक रोती रही। रात्रि का अन्धकार था। वह पंकज के घर की ओर निकल पड़ी। पंकज के मकान में पहुंची तो वह तकिए का सहारा लेकर बैठा था। ललिता को देखकर बोला, "अब मैं ठीक हो गया ललिता!"

"मैं कैसे विश्वास करूँ?"

"विश्वास, अभी चार-पाँच दिनों में जब मैं चलने-फिरने लगूंगा तो हो जाएगा।" मुस्कराते हुए पंकज ने कहा।

"कल तुमने साबूदाना क्यों नहीं खाया?"

"मीठा खाने की तबियत नहीं थी!"

"मूंग की दाल बना दूं?"

"अब, इच्छा नहीं है।"

"भूख तो आपको कभी लगती ही नहीं!"

"अच्छा बना लाओ, मुझे भूख लगी है।"

"सच।" उत्सुकतापूर्वक ललिता ने पूछा।

"हाँ-हाँ, जल्दी बनाकर लाओ। मुझे बहुत जोर की भूख लगी है।"

ललिता के मुख पर मुस्कान दौड़ गई। ललिता ने आग सुलगाकर उसपर पतीली चढ़ा दी और फिर आकर पंकज के पास बैठ गई। वह धीरे-धीरे पंकज के बालों में उंगलियां डाल कर उन्हें किरोलने लगी।

"आज तुमने पिताजीको फूल नहीं पहुँचाए ललिता!"

"नहीं।"

"क्यों नहीं पहुँचाए भला? पूजा का काम तो पहले करना चाहिए था ललिता!" पंकज ने सरलतापूर्वक कहा।

"यहाँ भी तो पूजा हो रही है। ललिता बोली।

पंकज चुप हो गया। ललिता पतीली की खिचड़ी देखने चली गई। पंकज के नेत्रों में आँसू भर आए। उसका हृदय भारी हो गया। सोचने लगा, "भगवान् मेरे साथ कहीं ललिता की नाव को भी न डुबा देना। मैंने आपका क्या अपराध किया है ? इतने निष्ठुर क्यों हो रहे हो तुम ? मुझ पर यदि दया नहीं करते, तो कम-से-कम बेचारी ललिता पर तो दया करो। मेरे पापों के साथ कहीं इस बेचारी का भी सर्वनाश न कर डालना।

आज पन्द्रह दिन हो गए और बुखार उतरने का नाम नहीं लेता। लाख सँभलने का प्रयत्न करता हूँ, परन्तु सँभल नहीं पाता।

"तुम्हारे ही हाथों में ही भगवान् यह नौका।"

ललिता खिचड़ी लेकर आ गई। तबियत न होते हुए भी पंकज ने थोड़ी खा ली। वह ललिता को अप्रसन्न नहीं कर सकता था। "अब तुम पूजा के फूल दे आओ ललिता ! और पिताजी के खाने का प्रबन्ध भी कर आना।"

"फूल मैं दे आई।"

"कब ?"

"थोड़ी देर पहले आपकी आँखें कुछ झँपक गई थीं, तभी मैं जाकर दे आई थी।"

"तब तो फूल रात्रि में ही चुन लिए होंगे ?"

"चाँदनी रात थी डर की बात नहीं थी।" ललिता ने कहा।

"ठीक है परन्तु फिर भी बाग में कीड़े-काँटे का भय रहता है। अब मेरी तबियत कुछ ठीक है, तुम पिताजी का खाना बना आओ।"

"अच्छी बात।" कहकर ललिता हकीमजी के पास गई।

हकीमजी से पूछा, "कब तक अच्छे हो जाएँगे ?"

"दवा तो दे रहा हूँ बेटी ! परन्तु बुखार टूटने ही नहीं कहता।

बड़ा डर रहा हूं कि कहीं मियादी न पड़ जाए।"

"क्या आप भी डरने लगे हकीमजी ? ललिता की आँखों में आँसू आ गए। वह वहीं उनकी चौखट पर बैठ कर रोने लगी।

"घबराने की बात नहीं है बेटी! भगवान् करेंगे तो शीघ्र ही अच्छा हो जाएगा पंकज। आज मैं दवा बदलने का विचार कर रहा हूँ। यह दवा रातभर में अपना असर करेगी। आशा है, कल बुखार नहीं रहेगा।" हकीमजी बोले।

"किसी प्रकार इस बार बुखार को उतार दीजिए हकीमजी! एक बार अच्छा कर दीजिए इन्हें।"

"पूरी कोशिश कर रहा हूँ बेटी! आगे खुदा हाफिज। मनुष्य का काम तो प्रयत्न करने का है।"

ललिता अपने घर चली आई। उसने बहुत शीघ्रता से खाना बना कर अपने पिताजी को खिलाया और फिर पंकज के पास चली आई।

"अब आप मुँह ढँककर सो जाइए।"

"सो जाऊँगा ललिता! परन्तु तुम मेरे पास ही रहना।"

: ८ :

पद्मा ने अब मित्र-मंडली में जाना-आना बन्द कर दिया था। कई बार विनोदबाबू आए, परन्तु उन्हें निराश लौटना पड़ा।

चेटर्जी विलायत चले गए मेरी के साथ।

आज फिर एक बार विनोदबाबू ने आने का साहस किया। दबे-पांव आए और पद्मा के कमरे में प्रवेश किया।

"ओह ! विनोदबाबू ! बहुत दिन बाद दर्शन दिए।" पद्मा ने कहा।

"मैंने अब एक काम प्रारम्भ कर दिया है पद्मादेवी ! उसमें इतना उलझ गया हूँ कि अवकाश नहीं मिलता। मैंने एक मोटरों की दूकान कर ली है।

"चलिए, अच्छा है।"

"आप तो शायद मुझे भूल ही गईं। बिनोद बोला।

"यह नहीं हो सकता विनोदबाबू ! हम तुम साथ-साथ पढ़े हैं। कितने दिन तक साथ-साथ रहे, फिर भला भूल किस प्रकार सकती हूँ ?" मुस्कराकर पद्मा ने कहा।

विनोद का मन फिर उछलने लगा। सोचा कि शायद आज फिर अवसर मिले गहरे पानी में घुसने का।

वह गम्भीर होकर बोले, "जब दिन फिरते हैं तो अपने भी पराए हो जाते हैं पद्मादेवी !" विनोद ने कहा।

"क्यों ? आखिर ऐसी क्या बात है ? नया करोबार किया है। अच्छी ही बात है।"

"सोच लो पद्मा ! मुझे मोटरों की दूकान करने की क्या आवश्यकता थी ?" गम्भीर मुद्रा बनाकर विनोदबाबू ने कहा।

"क्यों ? काम तो बुरा नहीं है। फिर काम तो कोई भी बुरा नहीं होता।" बिना मुस्कराए पद्मा ने कहा।

"यही बात है।" लम्बी साँस खींचकर विनोद ने नीचा मुँह करके कहा।

"क्यों, ऐसी क्या बात है ?' पद्मा ने मुस्कराकर पूछा।

"कुछ नहीं। अच्छा जाता हूँ, पद्मादेवी।" उसने सोचा था कि पद्मा ठहरने के लिए कहेगी। इसीलिए जाने को कहा, परन्तु पद्मा शायद जो बातें कर रही थी वे भी भार-स्वरूप ही उसे प्रतीक्ष हो रही थीं।

"अच्छी बात है।" पद्मा ने कहा।

विनोदबाबू आश्चर्य-चकित रह गए। कुछ भी नहीं पूछा। यह भी नहीं कि आखिर क्यों आए और क्यों चल दिए। आज इतने दिन में आए और फिर कब आइएगा?—विनोद के मन की आशा धुँधली पड़ गई।

मन के सारे स्वप्न धुलकर पानी हो गए। दरवाजे तक विनोद-बाबू गए और फिर सिर को खुजलाते हुए लौटकर बोले, "लो जिस काम से आया था वह तो मैं भूल ही गया था।"

"कहिए, क्या बात थी? मैं समझती थी कि आप केवल मिलने ही आए होंगे।" पद्मा ने कहा।

"मैंने जो मोटरों की दूकान की है उसका आज संध्या को उद्घाटन होना है।

"बहुत प्रसन्नता की बात है।" पद्मा ने कहा।

विनोदबाबू बोले, "और यह उद्घाटन आपके ही कर-कमलों से होना है।"

"क्षमा कीजिए विनोदबाबू! जो आदर आपने मुझे दिया उसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, परन्तु मैंने आजकल घर से बाहर जाना छोड़ दिया है। मैं नहीं आ सकूँगी।"

विनोदबाबू आज पद्मादेवी का व्यवहार देखकर चकित रह गए। वह विश्वास नहीं कर सके कि जो पद्मा इस समय उनके सामने थी, क्या वह वही थी जो कभी कठपुली के समान उनके हाथों में नाचती थी!

अब उनमें एक शब्द भी जबान से निकालने की सामर्थ नहीं थी। सीधे द्वार की ओर हो लिए। विनोदबाबू ने पीछे लौट कर नहीं देखा।

"आप जा रहे हैं?" पद्मा ने कहा।

"जी!"

"अच्छा...अच्छा...हाँ, क्षमा कीजिए विनोदबाबू! आपको कष्ट

हुआ ।" यह व्यंग नहीं था, अपमान नहीं था ।

"जी नहीं । कष्ट इसमें क्या है?" लज्जा को छिपाते हुए विनोद-बाबू ने कहा ।

विनोदबाबू मुँह लटकाए हुए चले गए। कोठी के दरवाज़े से एक बार घूमकर देखा कि शायद पद्मा अपने कमरे के द्वार से झांक रही हो, परन्तु वह नहीं थी । उनका विचार व्यर्थ निकला ।

पद्मा पहले की तरह सोफ़े पर बैठी रही । विनोद आया और चला गया । बातें हुईं, पर बहुत ही सूक्ष्म । मन में विचार आ रहा था, क्या पंकज वास्तव में बीमार हैं ? ललिता उनके पास है। कहीं ललिता ने सम्पत्ति के लालच में कोई चीज न दे दी हो उन्हें । आखिर इतनी बीमारी का क्या कारण ? असम्भव बात है, नितान्त असम्भव !

परन्तु ललिता उन्हें प्रेम करती है ।

"नहीं, प्रेम कोई चीज नहीं है । वह मेरे स्वामी हैं, मेरे हैं। विनोद बाबू ने मुझसे प्रेम किया, चेटर्जी ने किया, किसने नहीं किया । प्रेम कोई चीज़ नहीं । इसमें अवश्य ललिता का ही कुछ जाल है । यदि वह बीमार हैं...। तब क्या वह बीमार नहीं हैं ? नहीं, कदापि नहीं । मुझे जाना ही चाहिए। मुझे जाना ही होगा ।"

पद्मा उठ खड़ी हुई और सीधी अपने पिताजी के कमरे में जाकर बोली, "पिताजी ! मैं लोकनगर जा रही हूं । मुझे अभी जाना है, इसी समय। मैं मोटर से जा रही हूँ ।"

"मैंने तो पहले ही कहा था बेटी ! परन्तु शीघ्रता नहीं करनी चाहिए । संध्या की गाड़ी से चली जाना। वह सुबह तुम्हें लोकनगर पहुँचा देगी ।"

"नहीं पिताजी ! मैं अभी जा रही हूँ। मैं कार से चली जाऊँगी । अब रुकना असम्भव है ।" व्यग्र-भाव से पद्मा ने कहा ।

"रास्ता अच्छा नहीं है बेटी !" पिता ने कहा।

"कुछ भी सही ।" दृढ़तापूर्वक पद्मा बोली ।

पद्मा कार पर कलकत्ता से रवाना होने को ही थी कि सहसा उसे ध्यान आया कि वह किसी डाक्टर को अपने साथ ले चले ।

उसने कार सिविलसर्जन के बँगले की ओर मोड दी ।

"क्या इसी समय चलना होगा ?" डाक्टर ने पूछा ।

"तुरन्त, कार तैयार है। शीघ्रता कीजिए डाक्टर साहब !" पद्मा ने भयभीत स्वर में कहा ।

'मुझे कई मरीज़ों को देखने जाना है। डाक्टर ने कहा ।

"मैं आपको मालामाल कर दूँगी डाक्टर साहब ! आप उन्हें बचा लीजिए ।"

कहने के बाद पद्मा को ध्यान आया कि वह क्या कह रही है ? यह उसने आखिर क्यों कहा ? अभी तो उसे यह भी पूर्ण विश्वास नहीं था कि वह बीमार है भी—नहीं, वह झूठ नहीं लिख सकते। उन्होंने सत्य ही लिखा है ।

न जाने क्यों उसके मन में दृढ़ निश्चय हो गया था कि पंकज की बीमारी में ललिता का हाथ है ।

"आप देर क्यों कर रहे हैं डाक्टर साहब ! मेरा सर्वनाश हो जाएगा। शीघ्रता कीजिए, मैं आपका घर भर दूंगी। पद्मा ने गिड़गिड़ा कर कहा ।

'एक घंटा ठहर जाइए, मैं आपके साथ चलता हूँ। मैं एक मरीज़ को देख आऊं। मुझे उससे फ़ीस लेनी है। इस बीच में वह गुजर गया तो फिर नहीं मिलेगी ।"

"मैं आपको दुगनी फ़ीस दे दूँगी डाक्टर साहब ! शीघ्रता कीजिए।" पद्मा ने कहा ।

"और वह मरीज़ ?"

"आप फ़ीस चाहते हैं या मरीज़ !" पद्मा ने पूछा ।

डाक्टर असमंजस में पड़ गया। पैसे का लालच डाक्टर साहब को अधिक था। उन्होंने तुरन्त अपना बेग सँभाला और पद्मा की कार बिजली की गति से चल पड़ी।

"हैं-ऍं, यह क्या कर रही हैं आप ! कहीं कार इतनी तेज भी चलाई जाती है ?"

"बोलिएगा नहीं आप।" पद्मा ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"कार उलट जाएगी, टकरा जाएगी। देखती नहीं हैं कितनी खराब सड़क है और कार कितनी उछल रही है !

साठ मील . बाप-रे-बाप ! आप कैसा गजब कर रही हैं !"

"आप चुपचाप बैठे रहिए, बोलिए नहीं। यदि बातों में ध्यान बटाएँगे तो हानि हो जाएगी। मुझे बहुत शीघ्र पहुँचना है।"

"रात में कहीं एक्सीडेन्ट हो गया तो कोई पानी देनेवाला भी न मिलेगा।" डाक्टर ने कहा।

"न सही ! मुझे वहाँ पहुँचना ही है।"

"जी . न सही...मैं नहीं जाना चाहता। तुम मुझे यहीं पर उतार दो। फ़ीस के लिए मैं अपनी जान नहीं दे सकता। मैं नहीं जाना चाहता।

तुम कैसे..... कैसे आदमी...... औरत हो जी ! मैं नहीं जाना चाहता।"

"मैं कह चुकी हूं कि बोलने की आवश्यकता नहीं है !" कड़क कर पद्मा ने कहा और वह कार को बराबर उतनी ही तेज़ी से उड़ाए चली जा रही थी।

डाक्टर साहब चुपचाप बैठ गए। उनका बदन काँप रहा था। भय के मारे प्राण पखेरू उड़े जा रहे थे।

कार सपाटे के साथ चली जा रही थी।

रात्रि के ग्यारह बज गए। अब अधिक दूर नहीं था वह गाँव। पद्मा ने कार और भी तेज़ कर दी।

यकायक गाड़ी की बैट्री फेल हो गई।

पद्मा का सारा बदन पसीना-पसीना हो गया। उसका सिर चकरा रहा था।

लोकनगर आ गया था।

चारों ओर सन्नाटा था।

केवल एक ओर से किसीके रोने की आवाज़ आ रही थी।

पंकज का मकान उसी ओर था।

बीस वर्ष पश्चात

: ६ :

सरोजबाबू को पास होने की बधाई है।"

"अरे ! शीला ! तुम यहीं हो। कब आईं तुम ? पत्र भी नहीं लिखा कि कब आ रही हो ? अभी-अभी तो तुम्हें बधाई का तार भेजकर आ रहा हूँ। तुम फ़र्स्ट आई हो, इसलिए बधाई मुझे देनी चाहिए।"

"आपकी जगह मैंने ले ली। आपको कविता करने का आनन्द मिल गया, इसलिए आप सेकेण्ड आए।"

पास हो गए यही क्या कुछ कम है ?"

"क्या पास होने में भी कुछ शक था ? ये बनने की बातें न किया कीजिए।'

दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। शीला ने सरोज के कमरे में देखा तो रंग बिखरे पड़े थे और एक तख्ता उल्टा दीवार से लगा था।

शीला ने तख्ता पलट दिया। सरोज ने फुर्ती से तख्ती हाथ से लेते हुए कहा, "तुम्हारी बचपन की आदत अभी गई नहीं शीला ! इसे छेड़, उसे तोड़, इसे फोड़ भला यह भी कुछ बात है !"

वाह-जी-वाह ! आप तो चित्रकार भी बन गए। आखिर दुनियां का कोई काम आप किसी दूसरे के लिए भी रहने देंगे या नहीं ? जिधर भी देखिए सरोजबाबू अपना कदम बढ़ाने को तैयार हैं।" मुस्कराते हुए शीला ने कहा।

यह सब समय काटने के साधन हैं शीला ! आखिर करता भी क्या ?"

"ज़रा आपकी करीगरी देख तो लूँ।"

"नहीं, अभी बना नहीं है, अधूरा है।"

"मुझे अधूरी ही तस्वीरें अधिक पसन्द हैं।"

थोड़ी छीना-झपटी के पश्चात् आखिर तस्वीर देख ली।

"वाह जी ! आपने मेरी तस्वीर इतनी क्यों बिगाड़ डाली ?" कहकर शीला मुस्करा दी, परन्तु उसके दिल में गुदगुदी पैदा होने लगी।

"कौन कहता है कि यह आपकी तस्वीर है ?" सरोज बोला।

"और नहीं तो किसकी है ?" मुँह बना कर शीला ने पूछा।

"अभी अधूरी है। इसलिए तुम्हारी-जैसी मालूम देती है। जब पूरी हो जाएगी तो बदल जाएगी।" सरोज ने कहा।

"फिर है किसकी ?" अकड़कर शीला ने पूछा।

"यह एक देवीजी की है, शायद तुम भी इन्हें जानती हो। शीला ! यह देवीजी बड़ी अजीब हैं।"

"क्यों ?"

"मैं इन्हें पूजता हूँ और यह मुझे परेशान करती हैं।"

"तो पूजना छोड़ दो। अक्ल ठिकाने आ जाएगी। दो दिन पूजा न करो तो देखना क्या होता है !"

दोनों हँस पड़े।

"क्यों जी ! क्या दिल्ली में कुछ मसखरापन अधिक होता है ?"

"शायद हो !" गम्भीर-भाव से शीला ने कहा।

"तुम तो छुट्टी-भर दिल्ली ही रही होंगी ?"

"बस रहने दीजिए। मैं बधाई देने आई और आप बातों में ही टालना चाहते हैं। मैं माताजी के पास जाती हूँ।" कहकर शीला सीधी 'माताजी... माताजी' कहती हुई अन्दर चली गई।

"अरे शीला रानी ! कहो बेटी, अब लौटीं दिल्ली से ? अच्छी तो रहीं ?" सरोज की मातजी ने प्यार से पूछा।

"बहुत अच्छी रही माताजी ! दिल्ली तो बहुत कम दिन रही। बाबूजी के साथ शिमला चली गई थी। आज ही लौटी हूँ।" शीला ने सरलतापूर्वक आदर के साथ उत्तर दिया।

"लिखा भी नहीं आने से पहले ! सरोज कल ही तेरी याद कर रहा था। कह रहा था कि अब यूनीवर्सिटी खुलने वाली है और तुम आती ही होगी।" अपने पास बिठाते हुए कहा।

"जी !" लजाकर शीला बोली।

"आगे पढ़ने का विचार है न बेटी ?"

"क्यों नहीं माताजी ! अभी एम०ए० तो करना ही है।"

"ठीक है बेटी ! सरोज ने इधर कुछ बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं।" माताजी ने बताया।

"अच्छा माताजी मुझे तो एक भी नहीं सुनाई।" शीला मुस्कराकर बोली।

"नहीं सुनाईं ?"

"जी नहीं।"

"उसकी एक किताब भी तो छपी है।"

"अरे, कब माताजी ? कब ?"

सरोज भी वहीं पर आ गया। शीला ने सरोज की ओर देखकर कहा, "क्यों जी, बताया भी नहीं। बस ये बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं आपकी।" मुँह मटकाकर शीला बोली।

"माताजी ! भला आप ही बताओ, मैं इन्हें बताता कब ? आते ही तो मिठाई माँगनी प्रारम्भ कर दी। आई हैं पढ़ने और माँग रही हैं मिठाई।" हँसते हुए सरोज ने कहा।

"यह बात टालने वाली नहीं है सरोजबाबू ! माताजी आप मिठाई का प्रबन्ध करें और किताब की बात मैं स्वयं इनसे भुगत लेती हूँ।"

सरोज की माताजी मुस्करा दीं।

"यह भुगतना आप कहाँ से सीख आईं शीलादेवी ?"

"जी ! ये बातें भी दिल्ली में ही सिखाई जाती हैं। शायद आपने कभी दिल्ली देखी नहीं ?" शीला ने कहा।

"जी नहीं, यह लीजिए।" सरोज ने पुस्तक शीला को लाकर दी।

"परिणय' नाम तो सुन्दर है।" शीला बोली।

"पुस्तक भी सुन्दर है।" कहकर सरोज मुस्करा दिया।

शीला ने प्रथम पृष्ठ खोला और अपना चित्र देखा।

"अरे! मुझी को समर्पण भी कर दी। तब तो वास्तव में सुन्दर होगी। लो, मैंने आपकी दूसरी बात भी मान ली।"

"परन्तु बात तो आपने अभी एक भी नहीं मानी।"

"देखो जी! मैं कहे देती हूँ, अभी एम० ए० पास करना है। यदि इधर-उधर की बातें चलाईं तो ठीक नहीं होगा।"

"तब फिर तुम्हें शायद भुगतना पड़े। क्यों, यही बात है न?"

"यानी आप उपहास करने का विचार कर रहे हैं। क्यों श्री सरोज कविजी?" शीला ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा।

"चलो शीला चाय पी लो।" माताजी ने कहा।

दोनों चाय पीकर सरोज के कमरे में चले गए।

"तुम्हें हमारे घर भी चलना है।"

"अभी?"

"और नहीं तो कब?"

"क्यों?"

"माताजी ने याद किया है।"

"जी!" सरोज ने मुँह बनाकर कहा।

"जी क्या? सच कह रही हूँ। चलो जरा जल्दी करो। मैं तो यहाँ बातों में ही भूल गई। वहाँ प्रतीक्षा हो रही होगी। खाना भी वहाँ खाना है आज आपको।"

"तुम्हें हर समय खाने की ही चिन्ता रहती है।"

"अच्छा-अच्छा, यह व्याख्यान मार्ग में सुन लूँगी। तुम कपड़े पहनो और मैं माताजी से पूछ आती हूँ।" शीला अन्दर चली गई।

तैयार होने में अधिक देर नहीं लगी। कार में बैठकर दोनों शीला के घर पहुँच गए।

"माताजी ! सरोजबाबू ने यह किताब लिखी है।"

"सरोज ने लिखी है !"

"जी हाँ।" प्रसन्नतापूर्वक शीला ने कहा।

"बड़े होनहार हो सरोज बेटा ! सकुशल तो रहे छुट्टियों-भर। कलकत्ता में ही रहे ?" शीला की माताजी ने पूछा।

"जी ! यहीं रहा।" सरलतापूर्वक सरोज ने उत्तर दिया।

"शीला ने तुम्हें शिमला बुलाया, तो तुम क्यों नहीं आए ?"

"तब यह पुस्तक छप रही थी माता जी ! इसीमें फँसा था।"

"जी ! और मुझे लिख दिया कि एक आवश्यक काम है, उसीमें फँसा हुआ हूँ। एक मिनट का भी अवकाश नहीं।"

"ऐसा क्या काम था भला माताजी ! क्या किताब के प्रूफ शिमला में नहीं पढ़े जा सकते ? मुझे इनकी यही बात अच्छी नहीं लगती।" शीला बोली।

"कितनी जल्दी नाराज़ हो जाती है शीला ?" सरोज ने कहा।

"नहीं बेटा ! वह तुमसे कभी नाराज़ नहीं होती। जब इसने परीक्षाफल में देखा कि यह फ़र्स्ट और तुम सैकेण्ड हो, तो इसे विश्वास नहीं हुआ। तार करके यूनीवर्सिटी से पूछा। बड़ा खेद हुआ इसे यह जान कर।"

"परन्तु मुझे तो बहुत प्रसन्नता हुई माता जी।" सरोज बोला।

"सो तो होता ही है बेटा !"

"इतने में शीला अन्दर आ गई। सरोज की ओर मुँह करके बोली, "चलिए।"

"कहाँ ?" सरोज ने पूछा।

चाय के लिए !" शीला बोली।

"मैं चाय नहीं पीऊँगा।"

"मैं चाय नहीं पीऊँगा :" क्यों ? मुँह बनाकर शीला ने खिजाते हुए कहा, "चाय पीनी ही होगी, चलो......उठो......जल्दी करो; फिर सिनेमा चलना है।" मानो सब कार्यक्रम शीला पहले ही बना चुकी थी और फिर सरोज को लेने गई थी।

"माताजी! आप इन्हें बिलकुल नहीं समझातीं।" सरोज ने कहा।

"जी, समझाने के लिए आपही काफी हैं। शीघ्रता कीजिए! चाय ठंडी हो रही है।" जल्दी-जल्दी प्यालियों में चम्मच डालकर दूध-पानी मिलाते हुए शीला ने कहा।

सरोज को जबरदस्ती आज चाय पीनी पड़ी। यह नई मुसीबत थी सरोज के साथ। दोनों चाय पीकर सिनेमा चले गए।

मार्ग में काफ़ी बातें हुईं। छुट्टी-भर की रुकी हुई बातों का भंडार खुल गया। इधर-उधर के सिलसिले की बातों का भी मुख्य बातों के बीच में नम्बर आ जाता था।

"एक दिन तो मेरी कार टकराने से ज़रा-ज़रा बची सरोजबाबू!" शीला ने एक घटना के दौरान में बताया।

"तुममें यह बहुत बुरा ऐब......।"

"जी, मैं वह ऐब अब ठीक करना नहीं चाहती। मैं केवल बात सुना रही हूँ—आप अगर सुनना न चाहें तो मना कर दीजिए।" मुँह बनाकर शीला ने कहा।

"तो आप मना ही समझ लीजिए।" सरोज ने भी मुँह फुला लिया।

"जी नहीं, मना समझी नहीं जाती; की जाती है—जैसे मैं आपसे मना करती हूँ कि आप बात के बीच में कोई बात न कहें, वैसे ही आप भी कर दीजिए कविवर सरोजबाबू!" शीला यह कहकर कनखियों से हँस दी।

"अच्छा देखो बात चाहे जो कहो,परन्तु यह इतना लम्बा सम्बोधन मुझे अच्छा नहीं लगता।" सरोज ने कहा।

सरोज को घर पर छोड़कर ज्योंही शीला चलने लगी तो सरोज बोला, "मेहरबानी करके कार ज़रा दिल्ली की तरह मत चलाना।"

शीला ने आँख का तिरछा संकेत सरोज की ओर किया और तुरन्त कोठी के सामने सीधी जाने वाली सड़क पर पचास मील की गति से कार को छोड़ दिया। कार फर्र से उड़ गई।

सरोज कुछ काँपता हुआ-सा मुस्कराता रह गया।

: १० :

पद्मादेवी का जीवन अब बिलकुल बदल गया था। लोकनगर में अब उनके लिए क्या था? यों तो कहीं भी अब कुछ नहीं था। उनका जीवन भूलों की एक गठरी था। उन्हींकी हिफ़ाजत आजकल वह कर रही थीं। अपनी गलतियों का एक पिटारा था उनके पास। वही उनकी सम्पत्ति भी थी।

विनोदबाबू कलकत्ता में ही थे, उन्होंने विवाह नहीं किया। उनकी मोटर की दूकान खूब ठाट के साथ चल रही थी। वह कभी-कभी पद्मा से अब भी मिलने के लिए चले आते हैं, परन्तु कोई विशेष बात नहीं रह गई है अब। कोई आकर्षण नहीं रहा है इस मिलने में।

एक नई और तमाशे की-सी बात जो दुनियाँ को लगती है वह यह है कि पद्मा को अब वह जीजी कहने लगे हैं। भाई-बहन का नाता आजकल दोनों के बीच चलता है; मित्र-मंडली में कोई शक करनेवाला अब शेष नहीं रहा है।

एक दिन विनोदबाबू संध्या को कोठी पर चले आए और सीधे पद्मा के ही कमरे में पहुँच गए।

पद्मा पूजा कर रही थी, इसलिए चुपके से बाहर निकल आए।

वह पंकज का चित्र था जिस पर पद्मा ने फूल चढ़ाकर सिर टिका रक्खा था।

पूजा के पश्चात् पद्मा ने विनोदबाबू को अन्दर बुला लिया।

"कैसे कष्ट किया विनोदबाबू ?" पद्मा ने पूछा।

"तुमने विनोदबाबू कहना नहीं छोड़ा पद्मा ! मैं अब तुमसे नहीं बोलूँगा।" नाराजगी की ध्वनि में विनोद ने कहा।

"नाराज़ मत हो भय्या ! मैं पुरानी आदत की वजह से बोल जाती हूँ। अब मैं किसीको नाराज़ होता नहीं देख सकती। नाराज़ ही तो किया है मैंने अपने जीवन में सबको। अब किसीकी भी नाराजगी सहन करने की शक्ति मुझमें नहीं रह गई है।

"जीजी ! शीला बड़ी हो गई। उसके विवाह का प्रबन्ध करना चाहिए। काफी पढ़ चुकी है। मेरा विचार है कि एम०ए० पास कराने की कोई आवश्यकता नहीं है।" गम्भीरतापूर्वक विनोद ने अपनी राय दी।

"परन्तु भय्या, वह मानेगी नहीं। वह विवाह करना अभी नहीं चाहती।" पद्मा ने विनोद की बात का उत्तर देते हुए।

"तब क्या सब-कुछ उसी की इच्छा से होगा ? मैं पूछता हूँ कि आखिर तुम भी कुछ सोचती हो या नहीं या जो कुछ वह सोचती है वहीं तक आप भी सोचती हैं ?

"सोचती तो हूँ, परन्तु एम० ए० यदि और कर ले तो इसमें क्या हानि है ?" सरलतापूर्वक पद्मा ने कहा।

परन्तु बहन ! पक्की बात तो हो जानी चाहिए। तुम नहीं जानतीं

कि कितनी कठिनाई होती है इन कामों में। अच्छे वर की खोज में कई-कई वर्ष निकल जाते हैं।"

बातों का रुख बदला और वे कहीं-से-कहीं पहुँच गईं।

"कितनी भोली है शीला ! इतने दिन बीत गए, उसने यही नहीं जाना कि उसकी माँ मैं नहीं, कोई अन्य है।"

"जब हरिद्वार से तुम शीला को लाई थीं, तो यह ढाई-तीन वर्ष की थी।

"मेरा दिल भर आया था, जब मैंने इसे रोते देखा था। इसकी आँखों से आँसू बह रहे थे और यह फटे कपड़े पहने सर्दी में ठिठुर रही थी।" करुण-भाव से पद्मा ने कहा।

"इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ कि तुम्हें शीघ्र इसकी चिन्ता करनी चाहिए। अपना बच्चा हो तो कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु ऐसे मामले में काफ़ी परेशानी का सामना करना होता है।" विनोदबाबू ने राय दी।

"क्या कह रहे हो भय्या ! शीला मेरी लड़की है। उसके लिए क्या परेशानी होगी ? कौन जानता है उन बातों को ?"

"बातें छिपती नहीं हैं पद्मा। हमें विवाह से पहले सब बातें खोल देनी होंगी, नहीं तो शीला को जीवन में दुःख देंगी ये बातें।" विचार-शील व्यक्ति की भाँति विनोदबाबू ने राय दी।

पद्मा कुछ सोच-विचार में पड़ गईं।

"सोचने की कोई बात नहीं है। हमें चाहे गरीब घर में शीला की शादी करनी हो, परन्तु शादी वहाँ करेंगे जहाँ शीला का मान हो।" गम्भीरतापूर्वक विनोद ने कहा।

विनोद चला गया। शीला अपने कमरे से अपनी माताजी के पास आ रही थी। द्वार पर खड़ी होकर उसने इन बातों को सुना तो वह अवाक् रह गई। वह माताजी के पास न जाकर उलटी अपने कमरे में चली आई।

शीला को कभी-कभी थोड़ा-सा ध्यान अवश्य आता था इस बात का कि वह पद्मा की लड़की नहीं थी, परन्तु पद्मा का प्यार उसे सर्वदा इस भाव से दूर कर देता। पद्मा ने उसे ऐसा अवसर ही नहीं दिया था जिससे वह यह अनुभव कर सके कि वह उनकी लड़की नहीं थी।

आज बात स्पष्ट हो गई। उसे यह बात सरोज से जाकर कहनी होगी। वह सरोज से नहीं छिपा सकती। सरोज से इस रहस्य को छिपाना किसी दिन घातक सिद्ध हो सकता है।

शीला का मन परेशान था। आज उसने खाना भी नहीं खाया।

"खाना क्यों नहीं खाया बेटी ?" पद्मा ने प्यार के साथ पूछा।

"भूख नही लगी माताजी ! मेरी तबियत बिलकुल ठीक है।" शीला ने कहा।

शीला पद्मा पर यह प्रकट नहीं करना चाहती थी कि उसके मन कुछ खिन्न है। पद्मा का जीवन दुःखी है, यह वह जानती थी। इसीलिए कभी कोई ऐसा कार्य उसने नहीं किया था जो पद्मा को बुरा लगे। वह पद्मा की मनःस्थिति को सर्वदा समझ कर चलती थी।

सरोज बड़े चाव से आया। आते ही सीधा पहले शीला की माताजी के पास जाकर प्रणाम किया और फिर शीला के कमरे में गया।

"लेटी हो ! दिन में भी सोने की बान डाल ली।"

"सो नहीं रही।" शीला ने बैठकर कहा।

"तुम्हें होता क्या जा रहा है शीला ? जब देखो तब यहीं पड़ी रहती हो।" अन्यमनस्क भाव से सरोज ने कहा। "परसों आया तो यहीं मिलीं, कल आया था तो यहीं मिलीं, और आज आया हूँ तो यहीं विराजमान हो। आखिर बात क्या है ? चलो.........खड़ी हो। देर

न करना, नहीं तो मार खा जाओगी। समझीं।"

शीला मुस्करा दी।

"मैं कहता हूँ कि मुस्कराने से काम नहीं चलेगा। शीघ्र खड़ी हो जाओ। देखती नहीं हो, सवा छः बज चुके।" घड़ीवाली कलाई शीला की आँखों के सामने करते हुए बोला।

"फिर क्या हुआ ?"

"क्या हुआ ? जानो कुछ जानती ही नहीं। केवल पन्द्रह मिनट रह गए हैं खेल शुरू होने में और आप कहती हैं कि हुआ क्या ?"

"तब फिर यों कहिए कि आपको सिनेमा चलना है।" मुस्करा-इठलाकर शीला ने कहा और उसकी इस बाँकी मुस्कराहट पर सरोज का मन-मयूर नाच उठा।

"जी ! मुझे सिनेमा चलना है। कृपा कर शीलादेवी तैयार हो जाइए।"

"इतनी ज़रा-सी बात के लिए आप परेशान हैं।"

दोनों खिलखिलाकर हँस दिए। दोनों की जीवन-सरिता आनन्द और उमंगों की लहरों में बह गई।

फिर कई दिन निकल गए। कितनी ही बार शीला ने विचार किया कि वह अपने मन की कसकनेवाली बात को सरोज के सामने रख दे, परन्तु जाने क्या-क्या अड़चनें बीच-बीच में आती गईं। वह न कह सकी। कई बार ज्योंही कहने का अवसर आया तो कुछ रुकावट सामने आ गई।

असल कठिनाई यह थी कि कहते हुए उसे भय लगता था। सोचती थी कि कहीं अन्य दुनियादारों की तरह यदि सरोज भी उस बात से प्रभावित हो गया तो वह कहीं की न रहेगी। उसके जीवन की आशाएँ, उमंग, स्वप्न—सब समाप्त हो जाएँगे। परन्तु वह उस बात को छिपाकर भी कब तक रख सकती थी। उसे एक दिन स्वयं स्पष्ट हो

जाना था। इसमें यही बेहतर था कि वह स्वयं कहे और देखे कि उसका परिणाम क्या होता है।

आज शीला ने सरोज को सब-कुछ बताने का निश्चय कर लिया।

"आजकल एक नई किताब लिख रहा हूँ शीला! बहुत सुन्दर है।" सरोज ने कहा।

"अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बन रहे हो। वाह-जी-वाह! बड़े सुन्दर कवि हो।" होंठों को मधुर प्यार में बिचकाते हुए शीला ने कहा और आँखों की भाषा में कुछ और भी कह डाला, जिसे केवल सरोज ही समझ सकता था।

"देखो शीला, मेरा मजाक उड़ाया तो......"

"तो क्या? बोलो!" तनकर सामने खड़ी होकर शीला ने कहा।

"अच्छा जल्दी करो। माताजी प्रतीक्षा कर रही होंगी।"

यहाँ से दोनों सरोज के मकान पर चले आए। सरोज का नया कमरा मकान से बिलकुल पृथक था, कोठी के एक कोने में।

"मैं तुमसे....' शीला की जबान कुछ कहते-कहते बन्द होगई।

"हाँ-हाँ, तुम कोई बात कहना चाहती हो और कहते-कहते रुक जाती हो। तुम मेरे सामने हर बात कह सकती हो शीला! मुझ में हर बात को सुनने की शक्ति है।"

"अच्छा जाने दीजिए, मैं नहीं कहूँगी।"

"रूठ गई बस! कहोगी कैसे नहीं? मैं आज सुनकर ही रहूँगा। मैं आज तुम्हें यहाँ इसलिए लाया हूँ कि तुम्हारे अन्दर घुमड़कर होंठों तक आ जाने वाली बात को बाहर निकाल लूँ।"

शीला ने अपने को सँभाला। आखिर एक दिन तो उसे यह बात कहनी ही थी। वह कब तक उसे अपने अन्दर का बुखार बनाकर पाले रह सकती थी? आज वह अपने को न रोक सकी। वह दीन-भाव से गिड़गिड़ाकर बोली, "मैं अनाथ हूँ, सरोजबाबू! इस संसार में मेरा

कोई नहीं है।"

"सो तो मैं भी हूँ शीला ! परन्तु तुमने यह कैसे कहा कि इस संसार में तुम्हारा कोई नहीं। जिसने तुम्हें पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है,क्या यह कहकर तुम उस देवी का अपमान नहीं कर रही हो ? तुम्हारा एक साथी भी है शीला !" बहुत ही गम्भीरतापूर्वक सरोज ने कहा।

"मैं उपहास नहीं कर रही हूँ सरोजबाबू !" शीला गम्भीर थी।

"मैंने भी उपहास नहीं किया ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह सत्य है। मैं भी अनाथ हूँ और तुमसे आश्रय चाहता हूँ। मैं भिक्षा माँगता हूँ तुम्हारे सामने किसी चीज की।... बस यही कहलवाना चाहती हैं आप मुझसे।" मुस्कराते हुए सरोज ने कहा। उसकी मुस्कान ने एक भ्रम-सा पैदा कर दिया शीला के मन में।

"यह बात नहीं है सरोजबाबू !" शीला और गम्भीर हो गई।

सरोज मुस्करा रहा था।

"बहुत गम्भीर न हो शीला !" शीला का हाथ अपने हाथ में लेते हुए सरोज ने प्यार से दुलारते हुए कहा।

"आज मुझे तुमसे गम्भीर बातें करनी हैं सरोज !" शीला की आँखों से आँसुओं की बूंदें टपक पड़ीं। अन्दर से घुमड़कर विचारों का बादल आया और बूँदें गिरा गया। शीला डबडबाई आँखों से देख रही थी।

"आखिर बात क्या है शीला ! तुम रो क्यों रही हो ? मेरी कुछ भूल हुई हो तो मैं क्षमा माँगता हूँ। मैंने तुम्हारा दिल दुखाने को कुछ नहीं कहा। क्षमा करना।" सरोज जरा सकपका गया। वह समझ नहीं पाया कि शीला का रोना किस बात को लेकर था।

सरोज शीला के निकट कोच पर बैठ गया। अपने रूमाल से उसकी आँखें पोंछते हुए बोला,"कहो शीला ! चुप मत रहो। मैं सुनना चाहता हूँ। मन की बात कह डालने से दिल हल्का हो जाता है।"

"मेरे माँ-बाप का पता नहीं है सरोज, मैं अनाथ हूँ।" शीला ने यह बात एक बड़ी बात मानकर कही, परन्तु सरोज पर इसका कोई प्रभाव न हुआ। उसने पूछा, "फिर माता पद्मादेवी कौन हैं?'

"इन्होंने मुझे पाला है। हरिद्वार में एक कुम्भ के मेले में मैं एक खोई हुई कन्या के रूप में इन्हें मिली थी। यह मुझे उठा लाईं और पाल लिया। बस यही है कुल कहानी। मैं बे-माँ-बाप की अनाथ लड़की हूँ। भविष्य में यही जानकर मुझसे मिलना।"

कुछ देर के लिए दोनों चुप रहे। सरोज को आश्चर्य हुआ यह सुन कर, परन्तु उसने फिर गम्भीरतापूर्वक शीला के हाथों को अपनी हथेलियों से सहलाकर पूछा, "तुमसे किसने कही यह बात शीला?"

"मामाजी और माताजी में बातें हो रही थीं। मैं उसी कमरे में आ रही थी। किवाड़ के पीछे से अपने बारे में बातें होती मैंने सुनीं, तो मैं वहीं ठहर गई। मैंने उनकी सब बातें सुन लीं। उसीसे मुझे यह सब ज्ञान हुआ।" कहकर शीला तनिक विचलित-सी हो उठी। जब से उसने यह बात सुनी थी, उसे ऐसा लग रहा था कि उसके पैरों के नीचे से जमीन निकल गई और अब वह हवा में ठहरी हुई थी, निराधार। उसे सहारा देनेवाला कोई नहीं था। माँ-बाप का पता न होने से उसकी जाति का पता नहीं, उसके परिवार का पता नहीं—फिर कौन उसे आदर देगा? वह सड़क पर पड़ा वह फूल ही सही, परन्तु डाली से टूटा हुआ फूल था। सुन्दर सही, परन्तु अपवित्र होने से देवता पर नहीं चढ़ाया जा सकता।

"समझ गया।" गम्भीरतापूर्वक सरोज ने कहा और फिर कुछ ठहरकर बोला, "क्या माताजी ने कुछ कहा है तुमसे?"

"यह असम्भव है सरोज!"

"फिर इस प्रकार दुखी होने की क्या बात है शीला! माँ-बाप तो अनेकों के नहीं होते। परिवार वालों का भी पता नहीं होता। क्या

उसे दुनिया से अलग हो जाना चाहिए। तुम्हे किस बात की चिन्ता है? एक माँ से छूटीं तो तुम्हें भाग्य से दूसरी माता मिल गई। बहुत से बच्चों को तो इस प्रकार भटकर जीवन-भर भटकना होता है।" बनावटी मुँह बनाकर शीला बोली, मानो सरोज को चैलेंज दे दिया।

शीला फिर भी अपनी सारी बात नहीं कह सकी। उसने मन के भावों को मन में ही रोकने का प्रयत्न किया। आज वह बात और आगे नहीं चलाना चाहती थी। वह चाहती थी कि केवल अपने मन का चोर निकालना।

"शीला शायद तुम समझती हो कि तुम ही अपने माँ-बाप का पता नहीं जानतीं। मेरी कहानी शायद तुमने नही सुनी।" शीला को अपने पास बिठाते हुए सरोज ने कहा।

शीला ने सरोज के मुँह पर देखा और समझ न सकी कि वह क्या कहना चाहते हैं।

"मेरी माँ का भी पता नहीं कि कहाँ पर ठोकर खाती फिरती होंगी।" सरोज ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"क्या?" आश्चर्यचकित होकर शीला ने कहा।

"यही बात है शीला! तुम जानती हो कि मैं गोद लिया हुआ...।"

"यह मैं जानती हूँ सरोज!"

"मैं जेल में एक अनाथ स्त्री के पेट से पैदा हुआ था। जेलर साहब ने दया करके मुझे गोद ले लिया था। आज वही मेरे पिता हैं।" चार शब्दों में सरोज ने कहा।

"और तुम्हारी माता?"

उन्होंने यहाँ रहना पसन्द नहीं किया। मुझे पालने का उनके पास कोई साधन नहीं था, इसलिए उन्होंने मुझे जेलर साहब के हवाले कर दिया।"

"तब क्या उन्हींकी खोज में तुम छुट्टियोंभर दुनियाभर की खाक

छाना करते हो सरोज ?' शीला ने पूछा।

"हाँ शीला ! मेरी माँ ने मेरा जीवन सुधारने के लिए अपने जीवन का सहारा, अपने कलेजे का टुकड़ा जेलर साहब के हवाले कर दिया।"

सरोज शीला को उसके घर छोड़ आया। एम० ए० की पढ़ाई प्रारम्भ होगई। दोनों ने कॉलेज जाना प्रारम्भ कर दिया।

"इस वर्ष देखें कौन फर्स्ट आता है ?" एक दिन शीला ने कहा।

"तुम्हीं आना शीला ! मुझे अब इसका कोई शौक नहीं रह गया है। मैं चाहता हूँ कि तुम ही प्रथम आओ।"

: ११ :

एक दिन शाम को शीला और सरोज दोनों एक फ़ोटो लिए हुए विनोदबाबू की दुकान पर पहुँच गए। सरोज बोला, "मामाजी जरूर पहचान लेंगे।"

"नहीं पहचान सकते।" शीला ने कहा।

"कैसा झगड़ा हो रहा है ? क्या बात है शीला ? कहाँ से आ रहे हो सरोज ?" विनोदबाबू ने पूछा।

"फोटोग्राफ़र के यहाँ से आ रहे हैं, मामाजी !"

"क्या कोई फ़ोटो खिचवाया है ?"

"जी !"

"देखें जरा।"

"आपको दिखाने के लिए तो लाए ही हैं।" कहते हुए शीला ने विनोदबाबू के हाथ में फ़ोटो दे दिया। "अच्छा बतलाइए यह कौन है ?"

"एक तो सरोजबाबू हैं ही और.. दूसरे साहब......"

"जी उन्हींको तो पूछना है ।" सरोज ने मुस्काते हुए कहा ।

"सरोजबाबू कौनसे हैं ?"

"विनोदबाबू वाक़ई चक्कर मे पड़ गए । किसे सरोज कहें ? दो चित्र थे । दोनों ही शेरवानी, चूड़ीदार पायजामे और सोफ़े में थे ।

आखिर एक पर उँगली रखदी विनोदबाबू ने ।

शीला खिलखिलाकर हँस पड़ी ।

"कहिए सरोजबाबू ! मैंने क्या कहा था ?"

"अच्छा, ग़लती हो गई मुझसे !" कुछ झेंपते हुए विनोदबाबू ने कहा । फिर चित्र देखा और अब रहस्य को ताड गए ।

"अरी पगली शीला ! अब समझा हूँ । तू बड़ी मक्कार है ।" तीनों हँस पड़े ।

यह बात शीला ने अपनी माताजी को सुनाई तो वह भी खूब हँसीं । पद्मादेवी ने मुस्कराते हुए कहा, "आज तुमने अपनी माताजी के सामने अजायबघर पेश कर दिया ।"

अब जब भी विनोदबाबू आते तो शीला वह फोटो उठा लाती ।

दिन छोटे और रातें बड़ी होने लगीं । सर्दी के दिन आगए ।

बड़े दिन की छुट्टियों में सरोज लाहौर जारहा था । शीला ने कहा, "क्या आप मुझे भी साथ ले चलेंगे ?"

"तुम क्या करोगी शीला ! तुम्हें अभी पढ़ना है, फ़र्स्ट आना है ।" सरोज ने कहा ।

"और तुम्हें......।"

"मुझे आवश्यक काम है । तुम जानती हो मैं कहाँ जा रहा हूँ ?"

"दस दिन में कोई विशेष पढ़ाई की हानि नहीं होगी । इस बार मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी । ज़िद करके शीला ने कहा ।

"ज़िद नहीं करनी चाहिए शीला !" सरलतापूर्वक सरोज बोला ।

"आप भी तो मेरी बात कभी नहीं मानते । इस बार मैं भी मानने

वाली नहीं हूँ।" मुँह बनाकर शीला ने कहा।

सरोज को शीला का आग्रह मानना पड़ा। रास्ते में आने वाले कितने ही स्टेशनों पर उतरे, परन्तु सब निरर्थक। कहीं पर कुछ पता न चला। सरोज की यह यात्रा निष्फल हुई।

छुट्टियाँ समाप्त होने पर लौट आए। फिर पढ़ाई प्रारम्भ हो गई।

एक दिन बैठे-बैठे सरोज बोला, "शीला!"

"क्या बात है?" सरोज की आँखों-में-आँखें डालकर शीला ने पूछा।

"यदि मेरी माँ जिंदा नहीं हैं तो वह भला मुझे स्वप्न में क्यों दिखाई देती हैं? मैंने कई बार उन्हें स्वप्न में देखा है। वह मुझे पाना चाहती है शीला!"

यह आपके विचारों का प्रतिबिम्ब है, सरोजबाबू!" गम्भीरता-पूर्वक शीला ने कहा। "आपने अपने विचारों में उनकी जो प्रतिमा बना रखी है, वही स्वप्न में आकर खड़ी हो जाती है।"

"यह मैं जानता हूँ, परन्तु कभी-कभी वह मेरे कान में आकर कहती हैं कि बेटा एक दिन मैं तुमसे अवश्य मिलूंगी।"

कई दिन निकल गए। आज शीला ने भी स्वप्न में अपनी माताजी को देखा। उसने स्पष्ट देखा कि वह उनसे कह रही थी,"माँ भूख...माँ भूख लगी है।"

'बेटी, खाना स्नान करके खाना चाहिए।"

"माँ भूख...माँ भूख.. लगी है।"

'ज़िद-नहीं करते हैं बेटी! स्नान करके खाना खाना चाहिए। भले बच्चे स्नान करके खाया करते हैं। फिर तू तो मेरी रानी बिटिया है। यह देख तेरे लिए पेड़े लिए लेती हूँ।" यह कहकर उन्होंने एक पेड़ेवाले से एक आने के दो पेड़े ले लिए।

"देख बिटिया! ये तेरे पेड़े हैं। पल्ले में बाँध लेती हूँ। इन्हें स्नान

करके खा लेना।"

"माँ भूख......माँ भूख......लगी है।"

"अच्छा, जल्दी-जल्दी चल...अरे...अरे भीड़ आ रही है. बचो.... बेटी...बेटी...बेटी .!"

"बस फिर माँ नहीं मिलीं सरोजबाबू !" शीला रो रही थी।

"कब देखा यह स्वप्न तुमने ?" सरोज ने पूछा।

"आज रात्रि में।" शीला ने कहा।

मन का भारीपन हल्का करने को दोनों सिनेमा चले गए।

दोनों को सिनेमा का बहुत शौक था।

एक दिन शीला बोली,"अब परीक्षा तक सिनेमा नहीं देखेंगे।"

सरोजबाबू को समर्थन करना पड़ा। परीक्षा तक सिनेमा की छुट्टी हो गई। कई अच्छे खेल आए, सरोज का मन हुआ, परन्तु शीला राजी न हुई सिनेमा जाने को।

पढ़ाई का जोर बढ़ गया। सरोज इतना कम पढ़कर भी इतने अच्छे नम्बर पा जाता है, शीला सोच रही थी।

क्लास के और लड़के समझते थे कि सरोज जाने कितना पढ़ता होगा। परन्तु वास्तविक रहस्य तो शीला ही जानती थी।

बिना पढ़े उसकी यह दशा थी। यदि वह थोड़ा पढ़ ले, तो जाने क्या ग़ज़ब करे ? एक बार पढ़ने से ही सरोज को पुस्तक याद होजाती थी। उसकी स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि बातें आप-से-आप उसके मस्तिष्क में उतरती चली जाती थीं।

: १२ :

परीक्षा का एक महीना रह गया।

"अब आपको पढ़ाई प्रारम्भ कर देनी चाहिए। अभी तक आपने कुछ नहीं पढ़ा। इस तरह कैसे काम चलेगा?" शीला बोली।

"तुम्हें अपनी भी कुछ चिन्ता है शीला! या मेरी ही चिन्ता रहती है। मैं कहे देता हूँ कि मैं इस वर्ष फ़र्स्ट आऊँगा। जितनी तुमसे मेहनत हो सके कर लेना।" सरोज मुस्कराते हुए बोला।

शीला यही चाहती थी। वह चाहती थी कि किसी प्रकार क्रोध में आकर वह पढ़ना आरम्भ कर दे। आज उसकी इच्छा पूरी हो गई।

"अजी देख लूंगी तुम किस प्रकार फ़र्स्ट आते हो?" बनावटी मुँह बनाकर शीला बोली, मानो सरोज को चेलेंज देदिया।

सरोज ने मुस्कराते हुए शीला का चेलेंज स्वीकार किया।

एक दिन रात के बारह बजे शीला धीरे-धीरे सरोज के कमरे पर आई। खिड़की से झाँककर देखा तो सरोज पढ़ रहा था। उसका हृदय आनन्द से गद्-गद् हो उठा।

मन मे आया कि मिलती चले, परन्तु नहीं; उसने मिलना उचित न समझा। पढ़ाई का क्रम टूट जाएगा। उसे तोड़ना ठीक नहीं।

शीला उलटे पैरों ही लौट आई। उसे विश्वास हो गया कि अब सरोज अवश्य क्लास में प्रथम आएगा।

इधर एक लड़का मद्रास यूनीवर्सिटी से आया था। बड़ा तेज था वह भी। सालभर के सभी टेस्टों में वह प्रथम आया था। क्लास-टीचर का आइडिया भी उसने बना लिया था। अध्यापक प्रभावित हो चुके थे उससे।

कभी-कभी शीला को भी यह विचार हो जाता था कि कहीं वही प्रथम न आजाए। शीला का प्रयास असफल हो चुका था उसको परास्त करने में। परीक्षा में ही यदि कोई विशेष बात हो जाए तो वह पृथक् चीज़ थी, परन्तु विश्वास के साथ वह नहीं सोच सकती थी।

अब शीला निश्चिन्त थी। पढ़ाई ठीक-ठीक टाइमटेबल बनाकर करने लगी। नियमित रूप से खाना-पीना, सोना, पढ़ना और घूमना चल रहा था।

सरोज का काम बिना टाइमटेबल के होता था। उसने जीवन में कभी कोई टाइमटेबल नहीं बनाया। एक दिन रात के एक बजे शीला को आ जगाया। "अभी से सो गई ?"

"क्यों, क्या बजा है ?" शीला ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा।

"कुछ बजा होगा, बजने में क्या हुआ ? परन्तु अभी तो नहीं सोना चाहिए था। कबीर के रहस्यवाद पर प्रश्न तैयार किया ?"

"नहीं तो।"

"नहीं तो !" सरोज ने मुँह बिचकाकर कहा।

"फिर किया क्या है आज तक ? केशव की कविता का कला-पक्ष याद किया है ? बिहारी की रसिकता पर कुछ याद है। तुलसी की बहुज्ञता पर प्रश्न तैयार किया ? सूर की सरसता... क्या कहूँ ? मैं जानता हूँ तुमने अभी कुछ नहीं किया। सब विषय अभी अधूरे ही पड़े होंगे। परीक्षा क्या खाक दोगी ? बीस दिन रह गए हैं और तुम अभी पुस्तकों का ही घोटा लगा रही हो। इस समय केवल चुने हुए प्रश्नों पर ही तुम्हें ध्यान देना चाहिए। उन्हींकी विशेष स्टडी करनी चाहिए।"

"क्या कहीं से पेपर मालूम कर लाए हो ?" शीला मुस्करा दी।

"और नहीं तो क्या ?" सरोज बोला।

"कहाँ से ?" ज़रा उत्सुक होकर शीला ने पूछा।

"कहाँ से ? वह तो हमें हमेशा ही आउट रहता है। आज तक

जितने इम्तहान दिए हैं, पेपर मुझे पहले से पता था।"

शीला को विश्वास नहीं हुआ। उसने केवल मज़ाक समझा।

"आप झूठ क्यों कह रहे हैं?" शीला ने पूछा।

"झूठ नहीं बावली! एक बार किताबों पर नज़र डालो और फिर पिछले तीन वर्षों के प्रश्न-पत्र देख लो, बस पर्चे सामने आ जाते हैं। यह है पर्चा आउट करने का तरीका, समझीं।"

"ऐसे ही पर्चे लेकर आए हो?"

"और क्या तुमने समझा था कि मैंने आफ़िस की सील तोड़ ली? उस तरह पर्चे आउट नहीं होते। अच्छा चलता हूँ, अब। कुछ दिमाग़ थक-सा गया था। सोचा, चलूँ तुम्हारा ही कुछ समय खराब करके अपना दिमाग़ ताज़ा कर आऊँ।"

"ठहरिए, चाय पीकर जाइएगा।"

"मैं रुक नहीं सकता। मुझे पढ़ना है अभी। तुम्हें चाय की न जाने क्या लत है? कोई समय भी तो होना चाहिए चाय पीने का।" सरोज बोला।

"जी! पढ़ने का भी तो कोई समय होना चाहिए। जब पढ़ने का कोई समय नहीं, तो चाय का भला समय कैसे हो सकता है?" शीला मुस्कराकर बोली।

"यह बात ग़लत है। पढ़ना मूड के ऊपर होता है। और लोग वर्षभर पढ़ते हैं और मुझे पढ़ते एक सप्ताह हुआ है।"

"जी! चाय पीना भी मूड पर ही है। बस कुछ पूछिएगा नहीं। इस समय बड़े मौके का मूड आ रहा है। आपने ज़रा भी हाँ-ना की तो सारा मूड खराब हो जाएगा।" शीला मुस्कराती हुई बोली।

"वह तो मैं चाहता ही हूँ।"

"परन्तु वह इस समय नहीं। अभी हम दोनों स्वतन्त्र हैं। मैं अपनी इच्छा से चाय पीती हूँ और तुम मेरे इस समय अतिथि हो। तुम्हें चाय

पीनी ही होगी।" शीला ने स्टोव जलाकर उस पर केतली चढ़ा दी।

चाय की शीला को लत थी। सब सामान वह अपने कमरे में ही रखती थी। स्टडी-रूम में उसे किताबों की जितनी आवश्यकता रहती थी, चाय के सामान की उससे किसी कदर कम नहीं थी।

चाय तैयार हो गई और दोनों ने पीनी प्रारम्भ करदी।

"तो अब आपने फर्स्ट आने का पूरा इरादा कर लिया? यही बात है न?" हँसकर शीला ने पूछा।

"यह बात थी तो नहीं, परन्तु अब अवश्य है?'

"यह क्यों?"

"मैं नहीं समझता कि तुम फर्स्ट आ सकोगी। मुझे यूनीवर्सिटी की शान रखनी है। एक दिन प्रोफेसर साहब ने कहा था। सरोज बोला, "जो सवाल मैंने बतलाए हैं, उन्हें यों ही मत टाल देना। उनमें से प्रश्न आएँगे परीक्षा में।"

"मैं कल उन्हें जरूर देखूंगी।" शीला ने कहा।

सरोज चला गया।

कई दिन निकल गए। परीक्षा की तैयारी के लिए छुट्टियाँ हो गई थीं। यूनीवर्सिटी जाना नहीं होता था। इसलिए शीला और सरोज की भेंट भी कई दिन से नहीं हुई थी। दोनों ही स्टडी पर जुटे थे।

आज शीला ने अपने टाइमटेबल का नियम तोड़ दिया।

रात के एक बजे सरोज के कमरे पर गई। वह चुपचाप कमरे के पास पहुँच गई। फिर धीरे-से खिड़की के शीशे से झाँका। शीला सन्न रह गई। सरोज की हथेली उसके माथे पर रखी थी और उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे थे।

शीला चुपचाप बाहर खड़ी रही थी। थोड़ी देर बाद सरोज ने अपना सिर उठाया और रूमाल से आँसू पोंछ लिए।

एक किताब उठाई, खोली; परन्तु शायद मन न लगने के कारण

उसीके स्थान पर रख दिया। फिर दूसरी किताब उठाई। तीसरी, चौथी, पाँचवीं किसीको भी नहीं पढ़ सका।

आखिर चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया।

एक बार शीला के मन में आया कि उसे लौट जाना चाहिए।

परन्तु वह कारण तो अवश्य जानेगी इस प्रकार रोने का। उसके जाने बिना वह अपना भी कोई काम नहीं कर सकेगी। सरोज शीला से कोई बात नहीं छिपाएगा।

जब उसे यह ख़याल होगा कि शीला ने उसे रोते देख लिया तो उसे......नहीं कोई बात नहीं। शीला और सरोज में कोई अन्तर नहीं था। वे दोनों एक थे।

सरोज शीला के कमरे के अन्दर आने पर भी उसी प्रकार बैठा रहा। उसने आश्चर्य प्रकट नहीं किया उसके आने पर। केवल इतना कहा, "इस ससय कैसे आईं शीला ! यह समय तो सोने का था।"

"हाँ, एक बार सो गई थी। फिर आँख खुल गई। किताब लेकर बैठी तो मन नहीं लगा। मैं जानती ही थी कि तुम इस समय तक सोते नहीं, चली आई।" सरलतापूर्वक शीला ने कहा।

"आज मैं बहुत रोया शीला ! तुमने अच्छा किया जो चली आईं।"

"क्यों ?" शीला ने पूछा।

"यों ही, कोई विशेष बात नहीं थी। आज संध्या को मैंने एक दीन भिखारिन देखी। बेचारी गिड़गिड़ाकर पैसा माँग रही थी। मैंने उससे पूछा, "पैसे का क्या करेगी तू माई ?"

"पेट भरना है बेटा ! भूख लगी है।" उसने कहा।

"तो चलो, मैं खाना खिला दूँ।"

वह मेरे साथ चली आई। खाना खाकर चली गई। उस सयय अचानक मुझे अपनी माँ की याद आगई। बस आप-से-आप मेरी आँखों

से आँसू बहने लगे।"

तुम्हारा मन बहुत कच्चा है सरोज ! परीक्षा बहुत निकट है। इस समय ये बातें तुम्हें भुला देनी चाहिए।" शीला ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

ठीक है शीला ! परन्तु जब माँ की याद में कभी आँसू आते हैं तो मैं उन्हें रोकता नहीं।

खूब जी भरकर रोता हूँ शीलारानी ! इससे मन का भारीपन दूर हो जाता है, जी हलका हो जाता है।" एक अबोध बालक की तरह सरोज बोला।

"एक बार फिर कहो रानी !"

"तुम पगली हो गई हो। अब जाओ। अरे ! हाँ, मैं भूल ही गया ! क्षमा करना शीला ! अभी चाय तैयार करता हूँ तुम्हारे लिए।" कहकर सरोज खड़ा हो गया।

शीला हँसने लगी। उसकी मुस्कान बिखर गई। प्यार से आँखें लजीली हो गईं। दोनों ने मुग्ध-दृष्टि से एक-दूसरे को देखा।

चाय पीकर शीला चली गई।

परीक्षा और पास आगई।

एक दिन संध्या-समय सरोज बोला, "चलो शीला। अरे ! अभी तो तुम तैयार नहीं हुईं।"

"आखिर कहाँ जाना है ?" शीला ने पूछा।

"कल परीक्षा है !"

"तब क्या अभी से सीट पर चलकर बैठने का विचार है ?"

"नहीं !"

"फिर।"

"चलो, सिनेमा चलें।"

"सिनेमा ?" आश्चर्य-चकित होकर शीला ने कहा।

"हाँ।"

"परन्तु मुझे तो अभी बहुत पढ़ना है।"

"अब !......बस हो लिया ...चलो, तैयार हो। अब कुछ याद नहीं होगा। जो कर लिया, वही बहुत है।"

"जी नहीं।"

"जी नहीं क्या ?" मैं परीक्षा से तीन दिन पहले पढ़ना छोड़ देता हूँ। कल-परसों इसलिए नही आया कि कहीं तुम्हारी हानि न हो।"

"आपने बड़ी कृपा की।" शीला मुस्करा रही थी।

"परन्तु आज यह कृपा नहीं होगी।" सरोज बोला।

"कोई क्या कहेगा भला ! विचार तो करो। कल परीक्षा है और आज आप सिनेमा चलने को कह रहे हैं। माताजी क्या कहेंगी ?" गम्भीर होकर शीला बोली।

"माताजी कुछ नहीं कहेंगी। वह हमें जानती हैं। सरोज ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"तो मैं माताजी से पूछ लेती हूँ।" शीला ने कहा।

"जी नहीं।'

"तब क्या बिना पूछे ही चलने का विचार है ?"

"आप अधिक बुद्धिमत्ता न छाँटिए। मैं कह रहा हूँ, तैयार हो जाइए, मैं स्वयं माताजी से पूछ लेता हूँ।" और वह अन्दर चला गया।

सिनेमा से लौटने पर सरोज ने कहा,"अब सीधी जाकर सो जाना। इस समय किताब पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। इस समय का पढ़ा पहले पढ़े को भी भुला देगा।"

"जो आज्ञा !" दोनों हँस दिए।

"परीक्षा प्रारम्भ हुई और समाप्त हो गई। शीला और सरोज दोनों ने ही पर्चे अच्छे किए। दोनों को सन्तोष था अपने काम पर। किसी प्रकार की दुविधा नहीं थी किसीके मन में।

छुट्टियाँ प्रारम्भ होगईं।

"आज मैं कानपुर जा रहा हूँ और वहाँ से प्रयाग चला जाऊँगा।"

सरोज ने शीला से विदा होते हुए कहा ।

"कितने दिन में लौटेंगे ?" शीला ने पूछा ।

"लौटना कहाँ होगा शीला ?" गम्भीर मुख-मुद्रा से सरोज ने कहा ।

"क्यों ?"

"पहले तो प्रयाग के कुम्भ की खाक छाननी है । फिर वहाँ से लखनऊ जाऊँगा । लखनऊ से हरिद्वार होता हुआ दिल्ली जाऊँगा । मैंने पूरा छुट्टी का प्रोग्राम बना लिया है शीला ! इस बार देखता हूँ भगवान् की क्या इच्छा है ?"

"आप उन्हें पहचान कैसे पाएँगे । आप कहते हैं कि जब आप चार वर्ष के थे, तभी......"

"यह ठीक है, शीला ! परन्तु मन नहीं मानता । वह कहता है कि तू भटकता फिर । अपनी माँ की खोज मे भटकने में भी कुछ आनन्द आता है । उस आनन्द का वर्णन मैं नहीं कर सकता ।"

शीला एक ठंडी साँस लेकर रह गई । मन में विचार आया कि वह भी साथ चलने को कहे, परन्तु वह सरोज के कंधों पर व्यर्थ भार नहीं लादना चाहती थी । फिर उसे आशंका थी कि इस प्रकार जाने की शायद पद्मादेवी उसे अनुमति न दें । उनकी इच्छा के विरुद्ध वह कोई कार्य नहीं करती थी ।

"तो आप अब अवश्य चले जाएँगे ?

"परन्तु क्या कुम्भ इस वर्ष प्रयाग में हो रहा है ?"

"नहीं तो !"

"अभी तो आपने कहा ।"

"मैं गलत कह गया शीला ! मेरा मस्तिष्क ठीक नहीं है । कुम्भ हरिद्वार में है ।" सरोज ने कहा ।

"तो क्या आप हरिद्वार में मुझे भी......।"

"हाँ, हाँ वहाँ तो पिताजी और माताजी दोनों ही आएँगे। उन्हीं के साथ तुम भी चली आना।"

"वैसे तो माताजी भी कह रही थीं चलने के लिए।"

"इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है?" सरोज बोला। सरोज चला गया। शीला स्टेशन तक पहुँचाने गई।

पत्र लिखने के लिए सरोज ने वायदा कर लिया था। वह प्रति सप्ताह एक पत्र अवश्य ही लिखा करेगा, चलते समय उसने शीला को आश्वासन दिया।

: १३ :

पद्मादेवी भक्ति की ओर अपना मन लगाना चाहती थीं। परन्तु वह नहीं लगता था। उनके मन में शाँति किसी समय भी नहीं होती थी। उसके अन्दर एक ऐसी अशांति ने वास कर लिया था कि जिसको कोई बाहरी चीज दूर नहीं कर सकती थी। उनके जीवन के किसी पहलू में कुछ स्थान रिक्त हो गया था। उस रिक्त स्थान की पूर्ति करना उनके लिए असम्भव था और उस रिक्त स्थान की स्मृति उन्हें क्षण-क्षण विचलित कर देती थी।

शीला ही आजकल उनके जीवन का आधार थी। उसके बिना एक पल भी ठहरना उनके लिए कठिन हो जाता था। वह उसे एक क्षण के लिए भी अपनी आँखों से ओझल नहीं करना चाहती थीं।

जब कभी उन्हें अपने पहले जीवन की याद आ जाती थी तो वह न जाने कितनी देर तक बैठकर रोती रहती थीं। उनके आँसू बन्द ही नहीं होने पाते थे। गत जीवन की न जाने कितनी भूलें उनके सामने

आकर खड़ी हो जाती थीं।

उन्हें विचार आता था कि उन्होंने अपने जीवन में क्या किया ?

'पति, जिन्हें देवता की तरह पूजना चाहिए था, जिनकी सेवा करनी चाहिए थी, उनको धन के झूठे अभिमान में फँसकर ठुकरा दिया। उनके बुलाने पर भी उनके पास नहीं गईं, उनको अपना न सकीं।

गईं भी तो उस समय जब उनके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे, उनकी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी थी, वह इस संसार और इसकी माया को पद्मा के लिए छोड़कर विदा हो चुके थे। उन्होंने यह पाप किया। इस पाप से मुक्ति केवल मृत्यु ही दिला सकती थी। पद्मादेवी का शरीर काँप उठता था यह विचार आते ही।

अब पति की प्रतिमा को पूजने से क्या लाभ ? जिसे जीवन-भर सताया और मानसिक कष्ट दिया,उसकी मूर्ति के सामने मस्तक टिकाना व्यर्थ था। यह कोरा दिखावा नहीं तो क्या था ?

"कहतीं, मैं वास्तव में पापिनी हूँ। मैंने उनके प्यार को ठुकराया उन्हें अपने हृदय में स्थान नहीं दिया।

इतने पर ही तो अन्त नहीं हुआ......मैंने उनके प्यार का अपमान किया; मैंने . नहीं...नहीं, मैंने उनका अपमान किया। उनकी आत्मा को कष्ट पहुँचाया। मैं अन्धी हो गई थी उस समय।

मैं क्षमा नहीं चाहती भगवान् ! मैं दण्ड चाहती हूँ, मुझे दण्ड मिलना चाहिए।

ललिता ने उनकी सेवा की। बीमारी के दिनों में उनकी देखभाल की।

सुना है कि उसकी दवा में अपनी टूटी-फूटी दो चार चीजों को भी बेचकर लगा दिया। अपनी सामर्थ-भर सब कुछ किया। उसने वह किया, जो एक पतिव्रता स्त्री को करना चाहिए।

उस देवी को मैंने पुलिस के हाथों में देकर सजा करादी। उसे चार

वर्ष के लिए कठिन कारावास में भिजवा दिया। पैसे के अभिमान ने मुझे मानवी से दानवी बना दिया था। मेरे अन्दर की मानवता को कुचल दिया था।

उस नीच डाक्टर ने भी धन के लोभ में लिख दिया, "पंकज को विष दिया गया है।" उसने साबित कर दिया।

उफ़! काँप उठी थी उस समय बेचारी ललिता। उसके नेत्रों का बहता हुआ पानी रुक गया था।

उसने एक शब्द भी अपनी सफ़ाई में नहीं कहा। सीधी जेल चली गई और उसके वियोग में उसका वृद्ध पिता अपने प्राणों से हाथ धो बैठा। मेरे पाप की सीमा नही है। फिर भी मैं नही समझती कि भगवान् मुझे क्यों दण्ड नही देता।

मैं इन पापों से छुटकारा नहीं पा सकती। ललिता का पिता अपनी पुत्री के वियोग मे तड़प-तड़प कर मर गया।

ये सब पाप किसने किए? इसी निर्मम पद्मा ने किए। इसी पिशाचिनी ने किये। और मैं अभी ज्यों-की-त्यों बैठी हूँ। कौन जाने कि मुझे जीवन में अभी और क्या-क्या पाप करने है?

बेचारी ललिता का कहीं पता नहीं। कौन जाने कहाँ और किस दशा में होंगी? यदि मिल जाए तो उसके चरण पकड़ लूँ।

लज्जावश मैं उसे जेल में देखने भी नहीं गई। मैं कितनी अंधी हो गई थी उस समय।

जेल मे छूटने पर वह लोकनगर नहीं आई। लोकनगर में आती भी किस लिए? पिता की मृत्यु की सूचना उसे जेल में ही मिल गई थी।

मेरे जीवन की जलन शांत नहीं हो सकती।

पद्मादेवी का इन्हीं विचारों में डूबते-उतराते न जाने कितना समय निकल जाता था। कभी-कभी रात्रि उन्हें करवटें बदलते हुए ही कटती

थी। उन्हें नींद नहीं आती थी।

उनके चित्त को चैन नहीं थी। अब वह जान गई थीं कि आराम धन में नहीं है। वह समझने लगी थीं कि सुख ऊँची शिक्षा में भी नहीं है। उन्होंने शिक्षा और धन के अभिमान में अपने पति को ठुकराया था। यह भूल उनके जीवन की कसक बन चुकी थी, जलन बन चुकी थी। उसे दूर नहीं किया जा सकता था। उसे दूर करने के अवसर वह खो चुकी थी।

ह समझने लगी थी कि जीवन की शांति स्वतन्त्रता में नहीं है। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता के लिए पति की अवहेलना की थी। उनका तिरस्कार किया था।

पद्मादेवी का जीवन अब बिलकुल बदल गया था। अब पद्मादेवी इन्हीं विचारों की उलझन में थी कि शीला दौड़ी हुई अन्दर चली आई।

"एक बात बताऊँ माताजी!"

"क्या परीक्षा-फल निकल आया?"

"सरोज बाबू फ़र्स्ट आए हैं!" कहकर शीला ने मुख नीचा कर लिया।

पद्मा ने मन में कहा,"चलो एक वर्ष की बात और रह गई। फिर शीला का वह विवाह कर देंगी?"

विनोद भैया को शीला के विवाह की ही चिन्ता रहती है। वह समझते हैं कि शीला के लिए योग्य वर नहीं मिलेगा। सरोज से योग्य लड़का और कौन होगा?"

"और तुम्हारा क्या रहा शीला रानी?"

"मैं थर्ड आई हूँ अम्मा! मेरा एक पेपर खराब हो गया था जरा।"

"चलो ठीक है।" पद्मादेवी ने मुस्कराकर कहा।

"फ़ाईनल में मैं ही प्रथम आऊँगी।" शीला बोली।

पद्मा हँस दी।

"अच्छा तो जा सरोज के घर। उसकी माता जी और पिताजी को सूचना दे आ। वह बाट देख रहे होंगे।"

"सरोजबाबू के रिजल्ट के लिए क्या राह देखना? उनसे बाजी मारना लोहे के चने चबाना है। बिना पढ़े उनका यह हाल रहता है, यदि कहीं पढ़ लें, तो जाने क्या हो? विचित्र प्रकार से पढ़ते हैं। एक दिन रात को माँ, दो बजे मुझे आकर जगा दिया।"

"क्यों?"

"सवाल बताने के लिए!" शीला हँसकर बोली।

"तो क्या प्रश्न-पत्र मालूम था उसे?" पद्मा ने पूछा।

"यही तो! जो-जो सवाल बताए वे ही पर्चे में सामने रखे थे!" मुस्कराती हुई शीला बोली।

"उस दिन मुझे विश्वास नहीं हुआ था, परन्तु पर्चे करते समय उन्हीं सवालों को देखकर पछताना पड़ा। उनकी सूझ ग़ज़ब की है!"

"बहुत अच्छा दिमाग़ है सरोज का" पद्मादेवी बोली।

"शीला ने सरोज के घर सूचना दी और फिर सरोज को तार किया।

सरोज के पास से प्रति सप्ताह एक पत्र आता था। अभी तक उसका काम पूरा न हुआ था। वह जिस उद्देश्य से देशाटन कर रहा था, वह कठिन था।

शीला को कोई आशा नहीं थी उसकी सफलता की, परन्तु वह सरोज के काम में रुकावट नहीं बनना चाहती थी।

प्रयाग, कानपुर, लखनऊ इत्यादि होकर सरोज हरिद्वार जाने का विचार कर रहा था। यात्रा के बीच शीला का तार मिला, जिसमें पास होने की सूचना थी।

कुम्भ के मेले के दिन पास आ गए। जबरदस्त मेला लगनेवाला था। सारी पंचपुरी में एक अजीब चहल-पहल थी। रोड़ियों का स्थान मेले के लिए चुना गया था। मेले का बाजार वहीं पर था और अधिकांश यात्री भी वहीं ठहरे थे।

सरोज हरिद्वार पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर सरोज ने शीला को पत्र लिखा। पद्मादेवी पहले से ही तैयारियाँ कर चुकी थी।

"सरोज को तार कर दो कि परसों हमें स्टेशन पर मिले। सुबह छः बजे हमारी गाड़ी हरिद्वार पहुँचेगी।" पद्मादेवी ने शीला से कहा।

"बहुत अच्छा ! हाँ, परन्तु सरोजबाबू के यहाँ से भी तो सब जाने का विचार कर रहे हैं।" शीला ने पद्मादेवी को सूचना दी।

"कब ?" पद्मा ने पूछा।

"यह मैं नहीं कह सकती।" शीला बोली।

"तो कोई बात नहीं। तुम तार कर आओ। उसके घर सूचना भी दे आना अपने जाने की। यदि उन लोगों को भी उसी गाड़ी में चलना होगा, तो स्टेशन पर भेंट हो जाएगी।"

"बहुत अच्छा।" कह कर शीला चली गई।

पद्मादेवी ने अपनी यात्रा का सब सामान जुटा लिया था। शीला ने लौटकर देखा तो बिस्तर गोल पड़े थे। वह देख कर चकित रह गई।

"सब तैयारी कर ली माताजी आपने तो !"

"हाँ बेटी ! गाड़ी संध्या को चार बजे जाती है"

"स्टेशन पहुँचकर देखा, भीड़ काफी थी। दूसरे दिन नौ बजे हरिद्वार स्टेशन आया। सरोज स्टेशन पर मिला। छः बजे पहुँचनेवाली गाड़ी आज नौ बजे पहुँची।

"गाड़ी बहुत लेट हो गई।" सरोज ने कहा।

"हाँ,स्पेशल ट्रेनों ने लेट कर दिया इसे।" पद्मादेवी ने कहा।

ठहरने का प्रबन्ध सरोज ने पहले ही कर रखा था। पद्मादेवी

को कनखल में ठहरना अधिक पसंद था। इसलिए सरोज ने कनखल में ही टेन्टों का प्रबन्ध किया था।

गंगा-किनारे पर टेन्ट लगा था। सुन्दर स्थान था। पद्मादेवी को घूमने का बहुत शौक नहीं था। यहाँ तक कि वह हर-की-पौड़ियों पर स्नान करने भी जाना पसंद नहीं करती थीं।

एक दिन शीला ने सरोज से कहा, "सरोजबाबू ! यहाँ एक काँगड़ी-गुरुकुल भी तो है ?"

"हाँ ! परन्तु वह ज्वालापुर में है।"

"कितनी दूर है यहाँ से ?"

"बहुत दूर नहीं है, यही तीन मील होगा, अच्छी जगह है। पिताजी और माताजी वहीं ठहरा करते हैं।" सरोज ने कहा, "वे लोग तो हर साल आते हैं यहाँ।"

"हाँ याद आया ! पिताजी तो आर्यसमाजी हैं न ?"

"हाँ ! वह पहले मुझे भी वहीं दाखिल कराने की बात सोच रहे थे परन्तु माताजी नहीं मानीं।"

"सुनते हैं वहाँ से पूरी शिक्षा पाने पर ही विद्यार्थी घर जाते हैं। बीच में छुट्टियाँ नहीं होतीं।" शीला ने कहा।

छुट्टियाँ तो होती हैं, परन्तु घर नहीं जाते।" सरोज बोला।

आज वहाँ चलेंगे।" शीला बोली।

"आज तो मुझे जाना ही है वहाँ।" सरोज ने कहा।

"क्यों ?" शीला ने पूछा।

"काँगड़ी-गुरुकुल का वार्षिकोत्सव हो रहा है। आज एक कवि-सम्मेलन है वहाँ।"

"आपको निमंत्रण मिला है उस कवि-सम्मेलन में आने का ?" शीला ने प्रसन्नतापूर्वक पूछा। "तब तो आप मंच पर बैठेंगे"

"हाँ शीला ! आज देखना वहाँ कैसा रंग जमाता हूँ।"

सन्ध्या को दोनों काँगड़ी-गुरुकुल गए।

दूसरे दिन लक्ष्मण-झूले का टूर रहा। वहाँ जाते समय पद्मादेवी भी साथ थीं। तीनों ने ऋषिकेश से ताँगा लिया। टेढ़ी-मेढ़ी पथरीली राह थी। चारों ओर वृक्षों का घना जंगल था। बड़ी मौज का दिन रहा। संध्या को वापस लौटे।

"बेटा, तुम्हारे पिताजी नहीं आए? कब आएँगे?"

"वे लोग कल आ रहे हैं, माताजी!"

"ठहरेंगे तो हमारे ही पास न! तुमने ठहरने का बहुत सुन्दर स्थान छाँटा है।" पद्मादेवी ने कहा।

"वे लोग काँगड़ी-गुरुकुल में ठहरेंगे।"

"अच्छी जगह है काँगड़ी-गुरुकुल, बेटा!"

"बहुत अच्छी जगह है माताजी!" शीला बोली। "वहाँ के ब्रह्मचारी पीली-पीली धोती पहनकर निकलते हैं, तो बहुत सुन्दर लगते हैं। बड़ा भोलापन होता है उनके चेहरों पर! मुझे बहुत पसन्द आया यह स्थान।" सरल स्वाभाविक स्वर में शीला ने कहा।

"तुम कब गई थीं?" पद्मादेवी ने पूछा।

"परसों।" शीला बोली।

संध्या को घूमने के लिए निकले तो रोड़ियों के बज़ार में जा फँसे। नागाओं का जुलूस निकलनेवाला था। गंगा का इधर-से-उधर जानेवाला पुल रोक दिया गया था। दोनों ओर पुलिस का प्रबन्ध था। कोई उधर-से-इधर नहीं आ-जा सकता था।

भीड़ में शीला परेशान होगई। सरोज को भी कोई उपाय नहीं सूझा कि आखिर किस तरह गंगा को पार किया जाए। काफ़ी देरी हो गई थी और भीड़ कम होने का नाम नहीं ले रही थी। आदमियों के ठट्ट-के-ठट्ट जुड़ते जा रहे थे।

आखिर परेशान होकर सरोज शीला से बोला, "चलो किसी दुकान

पर बैठकर कुछ आराम करलें। यहाँ कब तक खड़े रहेंगे ? इतनी भीड़ को चीरकर रास्ता बनाना सम्भव नहीं है।"

"परन्तु माताजी प्रतीक्षा कर रही होंगी।" शीला ने कहा।

"यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।" सरोज बोला।

"फिर क्या करना चाहिए ?"

"चलो बाहर निकल चलें और पीछे की ओर से ताँगा लेकर ज्वालापुर की ओर से निकलकर कनखल पहुँच जाएँ। यही एक मार्ग है। इस मार्ग का तो पता नहीं कब खुले।"

"इतना चक्कर ?"

"और नहीं तो क्या करें ? यहाँ कब तक खड़े रहेंगे ?"

"क्या इतनी देर तक भीड़ बनी रहेगी ?"

"कौन जाने ? बनी रही तो क्या करेंगे ?"

"चलो तुम्हें गंगा में तैराकर ले चलूँ।" सरोज ने मुस्कराकर कहा। "तुम जमकर मेरी पीठ पर बैठ जाना।"

"जी ! और वहाँ से भीगे हुए कपड़ों से डेरे तक जाएँगे। देखने वाले क्या कहेंगे ?" गम्भीर होकर शीला बोली।

"कहेंगे क्या ? थोड़े हँस-हँसा लेंगे, बस और कुछ नहीं।" सरोज बोला।

"इसे आप कुछ समझते ही नहीं।"

"बिलकुल नहीं।"

दोनों हँस दिए।

"अच्छा अब बाहर निकलने का प्रयत्न कीजिए। यहाँ अधिक प्रतीक्षा करना व्यर्थ है। माताजी को चिन्ता हो रही होगी।" शीला बोली।

"जो आज्ञा रानीजी !" कहकर सरोज मुस्करा दिया और फिर

दोनों बाहर की ओर चल दिए। ऊपर के रास्ते से होते हुए एक ताँगा पकड़ लिया। आज खूब थक गये थे दोनों।

: १४ :

ललिता पागल हो गई थी।

पद्मा ने ललिता को चार वर्ष के लिए जेल भिजवा दिया था। ललिता पागल स्त्री के रूप में हरिद्वार में फिरा करती थी। कभी-कभी हरिद्वार छोड़ कर चली जाती थी, परन्तु फिर कुछ दिन पश्चात् वह हरिद्वार में ही आ जाती थी।

यहाँ के सब दूकानदार उसे जानते थे। वे ही उसे खाने को भी देते थे। ललिता कभी किसी से कुछ माँगती नहीं थी।

इधर कुछ दिन से उसका स्वास्थ्य बिल्कुल बेकार हो गया था। ज्यों-ज्यों स्वास्थ्य साथ छोड़ रहा था, त्यों त्यों उसका पागलपन भी कुछ कम होने लगा था।

अन्य पागलों से उसकी दशा कुछ भिन्न थी। कभी-कभी घण्टों बैठकर वह कुछ सोचती-सी रहती थी। लोग उसे पैसे देते थे तो वह मना कर देती थी। वह किसी का पैसा नहीं लेती थी।

हर की पौड़ियों से स्टेशन की ओर आते हुए बाजार में एक घुमाव आता है। इसी के पास एक कुआँ बना हुआ है। इस कुएँ की सीढ़ी पर ललिता बैठ जाती थी। यह जगह उसे बहुत प्रिय थी।

कभी-कभी लोगों ने उसे गाते भी सुना था। बहुत प्यारा गाती थी। उसके गाने को लोग बहुत पसंद करते थे। बहुत से सज्जन ललिता का पगली होते हुए भी ध्यान रखते थे।

भीमगोडे के पास गंगा के एकांत किनारे पर किसी पत्थर पर बैठकर वह गाती थी—

दो हृदय मिल जायँ प्रियतम !
दो हृदय मिल जाँय ।
प्यार के कोमल-करों से
हृदय-अवगुंठन-लजीले
प्राण-प्रिय ! खुल जाँय ।
दो हृदय मिल जाँय ।

गाते-गाते उसका गला रुँध जाता था और आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती थी । वह उसी जगह बैठी हुई रोती रहती थी । चाहे जितने आदमी उसके पास खड़े हों, वह रोना बन्द नहीं करती थी । उसे किसी की लज्जा नहीं थी, किसी की चिन्ता नहीं थी ।

वह केवल अपने को ही देखती थी । किसी से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं था । कोई उसे छेड़ता भी नहीं था । पागलों को बच्चे तंग करते हैं, किन्तु ललिता को बच्चे प्यार करते थे, उसके पास जाकर बैठ जाते थे और वह उन्हें स्नेह करती थी ।

हरिद्वार के लोगों ने देखा था कि एक लड़की उसे रोज़ाना कुछ खाने के लिये दे जाती थी । यदि कभी वह नहीं मिलती थी तो वह परेशान होती थी । वह इधर-उधर ललिता को खोजती थी । सारा बाज़ार छान मारती थी ललिता की खोज में । उसे खाना खिलाए बिना उसे चैन नहीं पड़ती थी ।

ललिता का गाना बहुत प्यारा लगता था उसे । कभी-कभी वह उसकी गोद में जाकर बैठ जाती थी ।

कहती, "माँ, गाना क्यों बन्द कर दिया तुमने ?"

ललिता कुछ उत्तर नहीं देती थी । उसका मुँह देखने लगती थी । बहुत देर तक एक टक देखती रहती थी, मानो वह उसमें कुछ खोजने

का प्रयास कर रही हो।

"माँ गाओ गाना ! तुम रोने क्यों लगती हो ? रोया मत करो। तुम्हें रोती देखकर मुझे भय लगने लगता है।" वह बच्ची ललिता से कहती और उससे सटकर बैठ जाती।

ललिता ने मानो कुछ सुना ही नहीं। वह किसीके कहने से न तो गाती थी और न रोती थी। कान मानो उसके पास थे ही नहीं। उसे जो रुचता था वही करती थी। वह मुक्त थी।

कभी रोती-रोती चुप हो जाती और पागलों की तरह खिलखिलाकर हँस पड़ती। उसके पागलपन का भास भी उसके हँसने से ही होता था।

जब वह हँसती थी तो वह लड़की उसके पास नहीं ठहर सकती थी। उसका बदन काँप उठता था। वह धीरे-से उठकर चली जाती थी और फिर बहुत देर तक उसके पास आने का साहस नहीं करती थी।

ललिता को वास्तव में कोई समझ नहीं पाता था। वह पागल तो थी नहीं। साधारण पागलों-जैसी उसकी स्थिति भी नहीं थी। अच्छी भी उसे नहीं कहा जा सकता था। उसकी हँसने की प्रक्रिया और रहन-सहन को देखकर उसे साधारण स्त्री की संज्ञा देना ठीक नहीं।

हँसने के थोड़ी देर पश्चात् वह फिर गाना आरम्भ करती—

अंक में लेकर तरंगें
प्यार को मंडरा रही हैं,
गा रही हैं,
लाज से मुसका रही हैं।
क्यों न भरकर दो हृदय
अपने उदधि में इस मिलन को
चिर-मिलन बन जाँय !

प्रेम-कलिका प्रेम-अधरों
पर थिरक खिल जाँय।
दो हृदय मिल जाँय प्रियतम !
दो हृदय मिल जाँय।

वह लड़की फिर उसके पास आ जाती। उसका भय दूर हो जाता। उसे ललिता में फिर कुछ अपनत्व और ममत्व दिखाई देता और वह फिर उससे सट कर बैठ जाती।

कभी-कभी ललिता इस लड़की से बातें किया करती थी, "तू किसकी लड़की है बेटी ?"

ब्राह्मण की।" वह लड़की स्नेह से कहती।

ललिता फिर चुप हो जाती थोड़ी देर के लिए। कई बार उसके मुँह का रंग बदल जाता। फिर पूछती, "तेरी माँ का क्या नाम है ?"

"मेरी माँ मर गई।" माँ का नाम सुन कर बच्ची के नेत्र डब-डबा आते और वह रुआँसी हो जाती।

"कब ?" ललिता पूछती।

"कई वर्ष हुए।" वह कहती।

"झूठ···बिलकुल झूठ·· वह अभी मरी नहीं है, जिन्दा है।" दृढ़ विश्वास के साथ ललिता कहती, मानो उसे सब कुछ पता है। उसने कहीं देखा है उसकी माँ को।

"नहीं, वह मर गई माँ ! मेरे सामने मरी थी।"

"उसका नाम क्या था ?" ललिता पूछती।

"रामकली।" बच्ची कहती।

"फिर झूठ······बिलकुल झूठ······उसका नाम मैं बताऊँ····· मैं बताऊँ······अरे, तू चुप क्यों हो गई ? क्या बेटी को भी 'माँ' की याद आती है ? बिलकुल झूठ। बेटी माँ को याद नहीं करती।"

"तुम माँ की बात मत कहा करो माँ !" वह रोने लगती।

ललिता का बना-बनाया स्वप्न बिखर जाता। उसकी कल्पनाएँ अन्धकार में खो जातीं। उसका शिथिल मस्तिष्क जो कुछ सोचने का विचार करता वह उसे एक टूटा स्वप्न प्रतीत होता। लड़की को वहीं छोड़कर वह खड़ी हो जाती और ऊपर की ओर गंगा-किनारे जाने कहाँ तक चली जाती। कई दिन तक वह फिर हरिद्वार की सडकों पर दिखाई नहीं देती। वह लड़की नित्य उसे खोजती, परन्तु उसका कहीं पता न चलता।

फिर कुछ दिन पश्चात् हरिद्वार में कहीं दिखलाई दे जाती, और वह लड़की भी उसे खोज लेती। इस लड़की को ललिता को खोजे बिना चैन नहीं पड़ता था।

एक दिन ललिता ने उससे पूछा, "बेटी, तेरी माँ का नाम ललिता तो नहीं था? देख झूठ मत बोलना, नहीं तो मैं रो पड़ूंगी।"

लडकी अवाक् रह गई। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

"तेरी माँ अभी जीवित है, वह मरी नहीं है।" ललिता ने कहा।

"नहीं माँ, वह मर चुकी।" बच्ची दृढ़तापूर्वक बोली।

"क्यो?"

"मैंने अपनी आँखों से देखा था लोगों को उसे उठाकर ले जाते हुए। फिर चिता पर रखते हुए और क्षार होते। मेरी माँ का नाम ललिता नहीं, रामकली ही था।"

ललिला फिर वहाँ से चल देती। अधिक देर एक जगह रहना उसे पसंद नहीं था। वह उसी कुँए पर पहुँच जाती। बैठी रहती कुछ देर चुपचाप। फिर उठकर खड़ी हो जाती। एक-एक दूकानदार के पास जाकर पूछती, भैया तुमने देखी है क्या?"

"नहीं माँ, हमने नहीं देखी।" वह कहता।

फिर दूसरे के पास जाती और वही प्रश्न करती।

"क्यों भैया, तुमने देखी है क्या?"

"नहीं माँ हमने नहीं देखी।" दूसरा भी वही उत्तर देता।

फिर तीसरे के पास जाती। इसी प्रकार सारा बाज़ार छान डालती और फिर लौटकर उसी पुरानी जगह आकर बैठ जाती। ऐसा वह आमतौर पर करती थी। दूकानदार उसकी इस बात को जानते थे और इसीलिए बड़े प्यार से उत्तर देते थे। परन्तु उसका रहस्य किसी को पता नहीं था।

बाज़ार वाले उस पर दया करने लगे थे। कोई दुतकारता नहीं था। दुतकारने का वह कोई काम भी नहीं करती थी।

ललिता भीमगोडा के पास बैठी गा रही थी।

शीला और सरोज भीमगोडा देखने आए हुए थे।

"वहाँ भीड़ कैसी हो रही है गंगा-किनारे ? कोई गा रहा है ! चलो सुनें, शीला।" सरोज ने कहा।

"आपको कविता करनी क्या आ गई है कि जिधर भी किसी ने ऊँ-ऊँ की और आप लपके।" मुस्कराते हुए शीला ने कहा।

"अच्छा, देर न करो; ये बातें फिर सुन लूंगा।"

"आप जाइए, मैं नहीं जाती।" शीला बोली।

"रूठ गईं बस।" हँसते हुए सरोज बोला।

"और नहीं तो क्या ? गाना मेरी बातों से भी अच्छा है।"

"अरे भाई ! माना कि तुम्हारी ही बातें अच्छी हैं, परन्तु सुनने को तो रोज़ मिल जाती हैं।" हँसते हुए सरोज बोला।

दोनों वहाँ पहुँच गए। थोड़ी देर में उसने गाना बन्द कर दिया और वहाँ से उठकर भीड़ में कहीं खो गई।

"बड़ा सुन्दर गाती थी।" शीला ने कहा।

"हाँ।" सरोज बोला।

'जी चाहता है कि इस गाने वाली से मिला जाय।"

'चल बावली ! अब कह रही हो यह बात। मेरा मन तभी कर

रहा था। मैं इसलिए टाल गया कि फिर तुम कहोगी कि तुम्हें ऐसी ही व्यर्थ बातें सूझती हैं।" सरोज बोला।

"कहीं फिर मिल जाएगी।"

"बहुत कठिन है शीला! देखती नहीं हो, कितनी भीड़ है!"

"चलो देखें, शायद मिल ही जाए।"

भीड़ बहुत थी। भीड़ को काट कर तेज़ी से आगे बढ़ना कठिन था। खोजने का प्रयास किया, परन्तु वह न मिली। कहाँ मिलती है? दोनों ने भीमगोडे से हर की पौड़ी तक खोजने का प्रयास किया और फिर गंगा के बीचवाले घाट पर भी खोजा। परन्तु ...

"गाती बहुत सुन्दर थी।"

उसकी चर्चा करते हुए दोनों अपने डेरे पर चले आए। दोनों काफी थक गए थे।

"अब मैं जाता हूँ शीला!"

"जी नहीं, चाय पीकर जाना होगा।" शीला बोली।

"फिर वही चाय! पिता जी मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"करने दो।" आँखें फिराकर शीला ने कहा।

"बेटा सरोज! शीला अकेली चाय नहीं पीती।"

शीला लजा गई।

: १५ :

"शीला! हम इतनी भीड़ में नहीं जाएँगे।"

"क्यों?" शीला ने पूछा।

"क्यो-क्यों कह रही हो। देखती नहीं हो कितनी भीड़ है? जब

अभी से भीड़ का यह हाल है तो जब नागाओं की सवारी आएगी तब क्या हाल होगा ? आदमी-पर-आदमी गिरा जा रहा है। कहीं तिल रखने की जगह नहीं है। धरती आदमियों से पट गई है।"

"ये जानेवाले भी तो आदमी ही हैं।" शीला ने कहा।

"हैं, परन्तु लाभ क्या ? मूर्ख हैं ये सब जो इतनी भीड़ में कुचले जाने के लिए जा रहे हैं।"

"तो भला कुम्भ में ही आने से क्या लाभ ?

सरोज चुप हो गया। कहाँ तक बहस करता। बोला,"चलो तुम्हारे साथ मैं भी फँस जाऊँगा। समझी। अब जैसा चाहो वैसा करो, मैं बहस नहीं करता।"

"जी ! समझी ! यानी आप अकेले जाना चाहते हैं; जो बिलकुल असम्भव है ····समझे आप; यह असम्भव है, असम्भव है, असम्भव।" अकड़कर शीला ने कहा।

अब सरोजबाबू क्या कहते ? शीला ने 'असम्भव' शब्द के सामने उनकी क्या चल सकती थी ?

जाना सरोज को अवश्य था और शीला मानती नहीं। आखिर कहना ही पड़ा, "चलिए शीलादेवीजी ! आप भी चलिए। जब आप जिद कर रही हैं तो जिद का फल चखने के लिए उद्यत हो जाइए, परन्तु एकदम, तुरन्त।"

"जी नहीं ! देखते नहीं कितनीं भीड़ है ! आदमी-से-आदमी पिसा जा रहा है। कहीं तिल धरने की जगह नहीं है। इतनी भीड़ में जाकर क्या कीजिएगा ?" शीला मुँह फेरकर मुस्करा दी। "इतनी भीड़ में जाना मैं मूर्खता समझती हूँ। कोई अक्लमन्दी का काम नहीं है यह।"

हाँ-हाँ, सुन लिया बस। लगीं हमारा ही उपदेश हमीं पर झाड़ने। चलना है तो शीघ्रता करो।" सरोज बोला।

"अगर चलना है से आपका क्या मतलब है ? आखिर मैं पूछती

हूँ कि आप मेरे बिना जा सकते हैं ?" क्या आप…… ?"

"कैसा पागलपन है यह शीला ! मुझे देर हो रही है। कब तक होगी……?"

"बस-बस और अधिक लम्बी खींच न दीजिए। तैयार हो जाइए; देर हो रही है।"

"देर मैं कर रहा हूँ या तुम।" सरोज बोला।

"मैं भी तो यही पूछती हूँ कि देर मैं कर रही हूँ या आप ?"

"अरे ! कैसी बातें हो रही है ? पद्मादेवी ने अन्दर से आकर कहा।

दोनों चुप हो गए। पद्मादेवी के सामने एक शब्द न बोले।

"क्या बात थी सरोज ?"

"कुछ नहीं माताजी ! शीला देर कर रही थी चलने को।"

"नहीं माताजी ! मैंने देर नहीं की। देर सरोजबाबू कर रहे थे।" शीला ने कहा।

पद्मादेवी हंस पड़ीं। "इतने बड़े हो गए तुम दोनों और बच्चों वाली बातें नहीं गईं। कहाँ जाओगे, आज बड़ी भीड़ है ?"

"हाँ माताजी ! यही तो मैं कह रही थी कि कहाँ जाओगे आज ? देखिए कितनी भीड़ है कहीं पैर रखने को भी जगह नहीं।"

सरोज चुप-चाप सुनता रहा। वह मन में मुस्करा रहा था शीला अब बड़ी मक्कार होती जा रही है। वह डर गया कि माताजी जाने के लिए मना न कर दें।

पद्मादेवी बोलीं, "सवारी देखने जा रहे हो तो चले जाओ ! परन्तु सँभल कर जाना। भीड़ से दूर रहना। किसी ऊँचे स्थान पर खड़े हो जाना।"

"हाँ माताजी, यही तो मैं भी कह रही थी।"

"चल ! बड़ी मक्कार होगई है अब तू। जाओ बेटा सरोज !

सँभल कर जाना।" पद्मादेवी ने कहा।

"बहुत अच्छा माताजी!"

दोनों रवाना हो गए। रोड़ियों तक जाने के लिए ताँगा मिल गया। रोड़ियों के पास जाकर ताँगे से उतरना पड़ा।

"क्यों जी, यदि दूसरी ओर से नहर का पुल पार करके सीधे हर की पौड़ियों पर पहुँच जाते तो कैसे रहते? वहाँ किसी जगह आराम से बैठ कर तमाशा देखते।" शीला ने आँख फिराते हुए कहा।

"जी नहीं। क्षमा कीजिए, तमाशा बैठकर नहीं देखा जाता। यदि बैठना था तो आने की ही क्या आवश्यकता थी? संध्या को जाकर मैं सबकुछ सुना देता।" सरोज बोला।

"सुनना और देखना क्या बराबर हैं आपकी दृष्टि में? सुन तो आप कलकत्ता में भी सकते थे।"

"तुम्हारे लिए तो वह भी काफ़ी था।"

"फिर वही बात। यानी आप मुझे कुछ समझते ही नहीं। अच्छा जाइए, मैं नहीं जाती।" शीला एक सोडावाटर वाले की दूकान पर कुर्सी खिसकाते हुए बोली, "मैं यहीं बैठती हूँ; जब तमाशा देखकर लौटें, तो मुझे अपने साथ ले-लें।"

सरोज चुपचाप खड़ा रहा। वह शीला की मक्कारी देख कर मन-ही-मन मुग्ध होकर मुस्करा रहा था।

"अरे भाई! देखते क्या हो? दो बोतलें खोल डालो।"

"कौनसी बोतलें खोलूं सरकार?"

"जो ताजा हों।"

"सरकार सभी ताजा हैं।"

"जो पानी तुम्हारा खास होता हो, वह खोलो।"

"सरकार! आप बता दीजिए, अपनी-अपनी पसंद है। कोई औरैंज पसन्द करता है तो किसी को विमटो का शौक है? एक लेमनेड

पीता है तो दूसरा खारी सोडे के सामने दूसरी पर हाथ ही नहीं रखता। आप जो कहें सो खोल दूं।"

"अच्छा भाई, दो लिमटो खोल दो।" सरोज ने कहा।

सोडे की बोतलें पीकर दोनों आगे बढ़े। थोड़ी दूर आगे चलकर शीला बोली, क्यों जी! थक गए हो तो थोड़ा आराम करलें।"

"इसीलिए तो मैं... ।"

"नहीं-नहीं...मेरा यह मतलब हरगिज नहीं है। मैं तो उसी तरह से ताजा बनी हुई हूँ जैसी उस समय थी जब चली थी। मैंने तो आपके लिए पूछा है।" कहकर शीला ने दूसरी ओर मुँह कर लिया।

"अच्छा चलो एक-एक बोतल और पियेंगे।"

"चलिए! मैं तो आपके साथ हूँ। जो आप कहेंगे करती जाऊँगी। यदि आपको पानी ही पीने और पिलाने की इच्छा है तो कोई हानि नहीं।"

दोनों मुस्कराकर सोडे की दुकान में चले गए। थोड़ी देर वहाँ पर भी दूकानवाले के साथ चख रही और फिर आगे बढ़ गए। भीड़ के साथ रगड़ते-झगड़ते आगे बढ़ रहे थे।

आज भीड़ की कोई हद नहीं थी। एक पैर भी आगे बढ़ाना कठिन था। चलता-चलता यदि कोई एक बार गिर गया तो उसका उठकर खड़ा होना असम्भव हो जाता था।

बाज-बाज रेला तो इतना तेज आता था कि सरोज और शीला को साथ-साथ रहना कठिन हो जाता था। दोनों ने एक-दूसरे का हाथ पकड़ा हुआ था और भीड़ से झगड़ रहे थे। अचानक शीला को वह बात याद आ गई। बोली, "सरोजबाबू! ऐसे ही कुम्भ के मेले पर मैं अपनी माँ से छूट गई थी।"

सरोज को आज फिर अपनी माताजी की याद आ गई। माँ की याद आते ही उसका विचार जाने कहाँ चला जाता था। कुछ और आगे बढ़े तो सेवा-समिति का दफ्तर आ गया। वहाँ कितने ही खोए हुए बच्चे

रो रहे थे, कितने चुपचाप बैठे थे और यहाँ तक कि बूढ़ी और जवान औरतें भी बहुत-सी बैठी थीं।

शीला को बड़ा आश्चर्य हुआ। सरोज से बोली,"क्यों सरोजबाबू, क्या ये बड़ी-बड़ी औरतें भी खोई हुई हैं ?"

"हाँ।" सरोज ने कहा।

"ये अपने डेरों पर नहीं जा सकतीं ?"

"यदि जा सकती तो यहाँ क्यों बैठी रहतीं ? बेचारी गाँव की स्त्रियाँ हैं। जिन्दगी में पहली बार शहर देखा है। इन्हें यहाँ की हर दिशा समान लगती है।"

"क्यों, गाव की ही क्यों हैं ? सभी तो गाँव की मालूम नहीं होतीं। शहर की भी हैं और काफ़ी अच्छे-अच्छे घराने की मालूम होती हैं।"

शहर की स्त्रियों मे वे हैं जिन्होंने परदे से बाहर कभी कदम नहीं रखा। घरों में रहना ही इनका काम है। एक बार अपने आदमियों से अलग होकर ये किस प्रकार उन्हें पा सकती हैं ?"

"इन मेलों में बहुत-से बच्चे खो जाते हैं। कितनी ही बुढ़िया यहाँ धर्म कमाने के अपराध मे अपना बुढ़ापा खराब कर लेती हैं। स्वर्ग में जाती-जाती नर्क में गिर पड़ती हैं।

"वाकई सरोज बाबू ! इनमें कई बेचारी बुढ़िया भी हैं।"

"हाँ।"

दोनों और आगे बढ़ गए। किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से उस काठ के बने हुए पुल पर पहुँच गए, जो रोड़ियों के शहर से मिलता था। यह पुल नावों का बना हुआ था।

जिस समय काठ के पुल पर पहुँचे तो शोर हुआ, एक तरफ हट जाओ, सवारी आरही है।"

सरोज शीला का हाथ पकड़कर पुल से आगे की ओर बढ़ गया और एक ऊँचे से टीले पर जाकर दोनों खड़े हो गए।

सवारी सामने आ गई। बड़े-बड़े सुन्दर हाथी और उनके पीछे घोड़े और पालकियाँ थीं। हाथियों के ऊपर सुनहरी अम्बारियाँ थीं और उनके दाँतों में सोने के चमकदार कड़े पड़े थे।

घोड़ों की झूलें भी बड़ी शानदार थीं और सब से शानदार थी पालकी ले चलने वाले कहारों की वर्दी। सिर पर पल्लेदार चुनी हुई टोपियाँ, चिकन के कुर्ते और सब के मुँह में बनारसी पान का बीड़ा दबा था।

यह नागाओं की सवारी थी। लोग-बाग हाथ जोड़ रहे थे। कुछ लम्बे लेटकर प्रणाम कर रहे थे। कोई अपने बच्चे को उनकी ओर करके आँखें बन्द किए अर्पण कर रहा था। वे आशीर्वाद चाहते थे। एकाग्र मन से नतमस्तक थे।

हज़ारों आदमी उनके सामने सिर झुका रहे थे। बड़े-बड़े बाबू पत्नी सहित जमीन पर सिर टिका रहे थे। कितनी आस्था थी उन लोगों में?

सवारी चली गई फिर और भी मजेदार दृश्य रहा। हज़ारों स्त्री-पुरुषों ने उनकी पैरों की छुई हुई मिट्टी उठाकर अपने बच्चों का तिलक किया। किसी-किसी ने तो बच्चे का सारा मुँह ही मिट्टी से पोत दिया!

"देखा कुछ पागलपन।" सरोज शीला से बोला, "यह है हमारे देश की धर्मान्धता, मूर्खता?"

"इसमें पागलपन क्या है?" शीला ने पूछा।

"इस तरह मिट्टी बच्चों के मुँह पर पोतना भी कोई धर्म है। यह सरासर मूर्खता नहीं तो और क्या है? और उस पर भी इन पाखण्डियों के पैरों की छुई हुई।"

"ये धोखेबाज़ लोग हैं। ढोंगी कहीं के। ढोंग बनाकर दुनियाँ को ठगते हैं।" कुछ आवेश में आकर सरोज ने कहा। नागाओं के इस जलूस को देखकर जहाँ लाखों आदमी ऐसे थे कि जिनके हृदय श्रद्धा और अनुकम्पा से भर उठे थे वहाँ इस भीड़ में एक व्यक्ति सरोज भी था जिसके मन में यह सब पाखण्ड और मूर्खता देखकर क्रोध और दया का

आविर्भाव हुआ। धूर्त नागाओं पर जहाँ एक ओर उसे क्रोध आया वहाँ दूसरी ओर अनजान लोगों पर दया आई।

"जिन लोगों में श्रद्धा नहीं होती वे यही कहते हैं," शीला ने कहा। कुछ ठहरकर शीला फिर बोली, "सारी दुनियाँ एक सी नहीं होती। यदि इन फ़कीरों में हजार बदमाश हैं तो एक साधु भी अवश्य मिल जाएगा।"

"उस एक से हो गया दुनियाँ का उद्धार।" सरोज ने जरा कुढ़ कर कहा।

"एक—एक ने ही दुनियाँ का उद्धार किया है। राम अकेले ही तो थे, कृष्ण भी अकेले थे, बुद्ध भी अकेले थे, ऋषि दयानन्द का ही साथ देने वाला शुरू में कौन था? कितने लोगों ने उन पर पत्थरों की वर्षा नहीं की और उन्हें जहर भी पिला दिया?"

"वे ईश्वर की विशेष शक्तियां हुआ करती हैं शीला! जो कभी-कभी जन्म लेती हैं। वे जन्म से ही कुछ अजीब हुआ करते हैं। इस प्रकार के ढोंग बनाने के लिए वे कभी नहीं आते। उन्हें काम करना होता है। वे इस प्रकार पाखण्ड नहीं रचते।"

"आप अब पूरे आर्यसमाजी होते जा रहे हैं।" शीला बोली।

"अब होता जा रहा हूँ।" सरोज ने आश्चर्य से कहा, "क्या पहले नहीं था? अब तुम्हें क्या विशेषता दिखाई दे रही है?"

"थे अवश्य परन्तु अब पूरे होते जा रहे हो।"

"सो कैसे?" सरोज ने पूछा।

"यों कि पहले ठीक बात को मान लेते थे और अब हर बात में खिद करने की तुम्हारी नीयत रहती है।"

"अच्छा!" सरोज ने मुस्कराते हुए कहा।

"अच्छा क्या?" शीला ने अपनी हँसती हुई आँखें एक ओर को फिरा लीं, "मैं क्या सच नहीं कह रही हूँ?"

इस समय तक पुल रुका हुआ था। रोड़ियों की ओर के आदमी

सभी जलूस के पीछे-पीछे हर की पोड़ियों पर जाना चाहते। पुल बहुत छोटा था और भीड़ बहुत अधिक। फिर पुल यदि भर कर चलता तो टूटने का भी भय था। पुल काफ़ी कमज़ोर था।

आज पर्व का दिन था और सब एक साथ हर की पौड़ियों पर डुबकी लगाकर पाप-मुक्त होना चाहते थे। सबके पाप-मुक्त होने के लिए वहाँ स्थान का अभाव था। इसलिए इस नाव के पुल पर पुलिस और स्वयंसेवकों ने रोक लगा दी थी।

पुल के एक किनारे पर एक बल्ली लगा दी गई, जो काफ़ी नीची थी। इसके नीचे से होकर पुल पर जाने का रास्ता था। बल्ली के लग जाने से भीड़ भाग नहीं सकती थी।

ऐसा करने से पुल पर चलनेवालों और हर की पौड़ियों पर पहुँचनेवालों की संख्या तो कम हो गई, परन्तु जो जाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे उनकी संख्या बढ़ गई और पुल के इस किनारे पर भीड़ का ठट लग गया।

लोग आगे बढ़ना चाहते थे। धक्के-पर-धक्के लगने लगे। बूढ़े, बच्चे और स्त्रियों की भीड़ में भिच-भिचकर बुरी दशा होने लगी।

पुलिस और स्वयंसेवकों को भय हुआ कि कहीं पुल के सिरे पर रखी हुई बल्ली न टूट जाए? यदि ऐसा हो गया तो अनर्थ हो जाएगा। कितने ही आदमी जान से हाथ धो बैठेंगे और पुल तो अवश्य ही टूट जाएगा। इतनी भीड़ को सँभालने के लिए पुल बिलकुल कमज़ोर था।

पुलिस को सख्ती से काम लेना पड़ा। धक्के दे-दे कर लोगों को पीछे हटाया। उनपर काफी टीका-टिप्पणी हुई, परन्तु उन्होंने भीड़ को आगे बढ़ने से रोक दिया।

इतने में ही एक बड़े ज़ोर का धक्का लगा और एक स्त्री धक्का खाकर सरोज के आगे आ गिरी। उसके मुँह से एक आह निकली। उसके वस्त्र फटे हुए थे। कोई भिखारिन मालूम देती थी।

सरोज ने साहस करके पीछे की भीड़ को रोका। शीला ने उसे उठा लिया। चोट काफी आई थी उसके। चलना कठिन था और यहाँ पर रुका भी नहीं जा सकता था। सरोज की क्या सामर्थ्य थी जो भीड़ को रोक पाता। परन्तु सरोज ने साहस नहीं छोड़ा। शीला डर गई उस भीड़ और भिखारिन की दशा देख कर।

"आप क्या कर रहे हैं? देखिए कितनी भीड़ है? जल्दी कीजिए। आप भीड़ को व्यर्थ रोकने का प्रयत्न कर रहे हैं।" शीला ने कहा।

"धैर्य से काम लो शीला! देखो इसके मुँह को, अरे! इसकी तो टाँग भी शायद टूट गई।" सरोज बोला।

"भाग्य से दो स्वयंसेवकों ने इस घटना को देख लिया और उचित अवसर पर सरोज को सहायता मिल गई। सरोज ने उस स्त्री को गोद में उठा लिया और शीला को साथ लेकर पुल पर पहुँच गया। पुल के शुरू में जितनी भीड़ थी उतनी आगे चलकर नहीं थी। पुल के बीच में काफ़ी उछीड़ थी।

अभी तक सरोज ने उस स्त्री के मुख की ओर नहीं देखा था। पुल पार करके ये लोग ऊपर के मार्ग से होते हुए ताँगों के पास पहुँच गए और बड़ी फुर्ती से उसे अस्पताल में ले गए।

स्त्री बेहोश थी। स्ट्रेचर पर लिटाकर सरोज ने देखा तो वह बोला, "शीला! कहीं देखा है इस स्त्री को?"

शीला पहचान गई, "हाँ-हाँ, परसों ही तो देखा था।"

"भला कहाँ?" सरोज ने पूछा।

"भीमगोड़े के सामने गंगा के किनारे गाना गा रही थी।"

सरोज का आकर्षण एक कलाकार के नाते उसकी ओर झुक गया। वह उसके कंठ-स्वर की ओर पहले से आकर्षित था।

तब तक डाक्टर आ गया।

"कहिए डाक्टर साहब ! चोट अधिक तो नहीं आई। कोई खतरे की बात तो नहीं है।" सरोज ने डाक्टर से पूछा।

"नहीं कोई खास बात नहीं है ? थोड़ी बेहोशी है। यह अच्छा ही है। पैर की चोट तो जल्द ठीक हो जाएगी। हड्डी में चोट नहीं है। दवा देता हूँ, इसके चार बार पीने से बेहोशी भी दूर हो जाएगी। परन्तु हाँ ! आप इसको क्या यहीं छोड़ना चाहते हैं ? देखिए यदि यहाँ रहीं तो बड़ा कठिन है। आप देख ही रहे हैं कि कितने मरीज आ रहे हैं। यहाँ इसकी कोई देख-भाल भी नहीं हो सकेगी।'

"आप चिन्ता न कीजिए डाक्टर साहब ! मैं इसे अपने साथ ले जाऊँगा।" सरोज ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"अपने साथ !" शीला ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा।

"हाँ क्यों ? जब ठीक हो जाएगी तो बेचारी चली जाएगी।"

दवा लेकर दोनों टैक्सी से रवाना हुए।

"अब चलना कहाँ है ?" शीला ने पूछा।

"कनखल तो आज कार जा नहीं सकती।" सरोज बोला।

"क्यों ?" शीला ने पूछा।

"भीड़ की वजह से सड़क बन्द है !" ड्राइवर ने कहा।

"तब फिर ?"

"काँगड़ी-गुरुकुल चले चलते हैं अपने डेरे पर।"

"यही ठीक रहेगा।" शीला बोली।

शीघ्र ही कार काँगड़ी-गुरुकुल पहुँच गई।

जेलर साहब वहीं ठहरे थे। पुराने आर्यसमाजी होने के नाते आप प्रतिवर्ष यहाँ के वार्सिकोत्सव पर आया करते थे।

: १६ :

वह स्त्री अभी तक अचेत थी। दो खुराक दी जा चुकी थीं। तीसरी खुराक का समय हो रहा था।

"शीला ! तुम्हें बहुत देर होगई। माताजी राह देख रही होंगी। तुम जाकर कार से हो आओ। जल्दी लौटना। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।"

"अच्छी बात", कहकर शीला चली गई।

तीसरी खुराक पीकर बीमार स्त्री के बदन में सिहरन हुई। एक हाथ इधर-से-उधर डाला और ओंठों को एक-दो बार चलाया।

सरोज की जान-में-जान आगई। अब उसे विश्वास हो गया कि वह बच जाएगी। उसके मर जाने का भय दूर होगया। वह अब प्रसन्न था। उसने अपना कर्त्तव्य पूरा किया।

सरोज के पिताजी और माताजी जल्से में गए हुए थे।

शीला लौट आई। उसने आने में देर नहीं की।

"बड़ी जल्दी आगईं।"सरोज बोला।

"हाँ ! माताजी तैयार बैठी थीं।" शीला बोली।

"किस बात के लिए ?" सरोज ने पूछा।

"यहाँ आने के लिए। आज उन्होंने जेलर साहब को यहाँ आने का बचन दिया था।"

"अच्छा !" तो कहाँ हैं वह ?" सरोज बोला।

"वह जरा पण्डाल की तरफ चली गई हैं। लेक्चर समाप्त होने पर

आएँगी।" 'आज माता जी आर्यसमाज का लेक्चर सुनने के लिए आई हैं।" सरोज को बड़ा आश्चर्य हुआ।

"चली आई है तो इसका यह मतलब नहीं कि वह आर्यसमाजी हो गई हैं। वह तो सनातनधर्मी ही हैं। और सनातनधर्मी ही रहेंगी।" शीला मुस्कराकर बोली।

"मैं तो समझता हूँ कि तुम भी अब आर्यसमाजी होती जा रही हो।" सरोज बोला।

"क्यों ?" शीला ने पूछा, "और कैसे ?"

"क्यों क्या ? मैंने कोई बात मुँह से निकाली नहीं कि तुमने बहस करनी शुरू कर दी इसलिए। आर्यसमाज की यही तो परिभाषा तुमने प्रस्तुत की थी।"

दोनों मुस्करा दिए।

"अच्छा अब उस देवी का हाल कैसा है ? कैसी दशा है अब ?"

"चौथी खुराक के पीने पर वह अवश्य ठीक हो जाएगी। अभी-अभी हाथ चलाया था और होंठ भी फड़के थे।" सरोज ने बताया।

"अधिक चोट नहीं है।"

"फिर भी···देखती नहीं हो बेचारी कितनी कमज़ोर हो रही है ? इसके लिए तो थोड़ी चोट ही बहुत है। इतने जर-जर शरीर पर इतनी चोट, बहुत बड़ी चोट है।"

"अच्छा देखो सरोजबाबू ! एक बात कहती हूँ। एक बात पर ध्यान दो।" कुछ गम्भीरतापूर्वक शीला ने कहा।

"कुछ बात भी है ?" सरोज ने पूछा।

"देखो इसके हाथ में जो धोती है यह कितनी मैली और फटी हुई है। परन्तु इसने गिरते-गिरते भी इस धोती को नहीं छोड़ा। मैं वहीं से इस बात को मार्क कर रही हूँ कि इसने अपनी जान बचाने की तो चिंता की नहीं और इस धोती को बचाने की चिन्ता की। आपने ध्यान

दिया इस बात पर ?" शीला ने गम्भीरता के साथ कहा ।

"तुम्हें ये ही बातें सूझती हैं । बड़ी मनोवैज्ञानिक बातें करती हो कभी कभी । इसमें अवश्य कोई रहस्य हो सकता है ।" सरोज बोला ।

मैं इसकी धोती को देखूंगी कि इस में क्या है ? इसमें अवश्य कुछ रहस्य है । न होता तो यह इसे छोड़ देती ।"

"इसके सचेत होने पर देख लेना । दिखाने में इसे क्या आपत्ति हो सकती है ?"

"क्यों ? हम क्या कुछ छूटा लेंगे ?" कहते हुए शीला ने धोती अलग कर ली । सरोज मना करता रहा और शीला ने एक बात भी न सुनी ।

धोती जर-जर थी । उसमें कुछ नहीं था । दो कोनों में दो गाँठें लगी थीं । शीला ने पहली गाँठ खोली तो उसमें दो सूखे हुए पेड़े बँधे थे । कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं थी यह शीला के लिए और सरोज को भी उसे देख कर कोई आश्चर्य नहीं हुआ । परन्तु ज्योंही उसने दूसरी गाँठ खोली तो उनमें एक चित्र देखते ही शीला ठगी-सी रह गई । उसका दिल धक-धक करने लगा ।

वह डेरे से बाहर चली आई । उसने चित्र को अच्छी तरह देखा । चित्र पंकज का था । वही चित्र था जिसकी पद्मा पूजा किया करती थी । उसकी कुछ समझ में न आया ।

शीला ने पेड़ों को फिर ध्यान से देखा । बहुत सूखे थे । दोनों पेड़े जुड़कर एक हो गए थे ।

यकायक उसे उस बात का स्मरण हो आया । जब वह हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर अपनी माँ से बिछुड़ गई थी । उसकी माँ ने उसके लिए एक आने के दो पेड़े लिए थे और नहाने के बाद खाने को कहा था ।

शीला सोचने लगी कि क्या बीस वर्ष से ये पेड़े इसी तरह इस

धोती के पल्ले में बँधे है ?

फिर विचार आया .. नहीं नहीं .. मैं भी जाने क्या-क्या ऊटपटाँग बातें सोचने लगती हूँ ? यह बेचारी भिखारिन है कहीं की। किसी ने दिए होंगे, सो पल्ले में बाँध लिए हैं।

परन्तु यह चित्र ! यह बिलकुल वही है जिसकी माताजी पूजा करती हैं।

चित्र बहुत धुँधला होगया था, परन्त फिर भी काफ़ी साफ़ था।

शीला फिर विचारने लगी कि किसी और का चित्र होगा। यह वह चित्र नहीं है। धुँधला होकर कुछ-कुछ उसका आभास होने लगा है।

कुछ भी सही, परन्तु यह सत्य है कि इस स्त्री का जीवन रहस्यमय है। इसे यों ही साधारण रूप से टाला नहीं जा सकता।

किसी प्रकार मन को समझा लिया, परन्तु शंकाएँ दूर नहीं हुई पेडोंवाली बात को इस चित्र के साथ मिलाने पर कोई तुक नहीं बैठती थी।

फिर भी शीला का दिल उस स्त्री की ओर खिंचे बिना न रह सका। वह अन्दर आई तो अभी तक वह अचेत पड़ी थी। चेतना-शक्ति उसके अन्दर धीरे-धीरे प्रवेश कर रही थी।

शीला पास पड़ी कुर्सी पर बैठकर बड़े ध्यान से उसके चेहरे को देखने लगी। शीला इस समय बहुत ही गम्भीर थी और आप-से-आप उसके नेत्रों में पानी छलछला आया था।

"क्या देख रही हो शीला ?" सरोज ने पूछा।

"कुछ नहीं। यों ही देख रही थी।"

शीला के हृदय की धड़कनें बढ़ने लगीं। उसे अपना स्वप्न सत्य-सा लगने लगा। उसने देखा कि उसकी अपनी शकल, बिलकुल उससे मिलती थी। बहुत दुर्बल थी वह स्त्री, परन्तु मुँह का बनाव बिलकुल एकसा था। कोई भी तो अन्तर उसे नहीं दिखाई दिया दोनों में। वही नाक, वही आँखें, वही होंठ, वही मस्तक, वही ठोड़ी, सब कुछ वही तो था।

एक बार शीला फिर बाहर चली आई। कितनी ही देर तक इस बार बाहर घूमती रही। परन्तु बात की कोई तुक नहीं बैठ रही थी।

उसे अपना विचार पागलपन-सा प्रतीत होने लगा। देर होने पर सरोज भी बाहर आगया और वह सीधा शीला के पास जा पहुँचा।

"यहाँ क्या कर रही हो शीला ?" सरोज ने पूछा।

"कुछ नहीं।" शीला ने कुछ सकपकाए-से स्वर में कहा।

"धोती के पल्ले में क्या निकला ?" सरोज ने पूछा।

"एक पल्ले में तो ये पेड़े थे..." शीला इतने ही कहने पाई थी कि सरोज उसके हृदय का भाव समझ गया।

"शायद इन पेड़ों का भाव तुमने अपने देखे हुए स्वप्न से मिला लिया होगा। बड़ी बावली हो शीला! भला यह भी कोई बात हुई!"

शीला चुप रही। उसने अपनी मूर्खता पर लज्जा अनुभव की। उसने सोचा कि शायद उससे अवश्य मूर्खता की है। परन्तु फिर भी वह बराबर उस स्त्री की ओर खिचती जारही थी। मन चाहता था कि यदि यह किसी तरह बोल पड़े तो वह तुरन्त उसका हाल पूछे।

दोनों अन्दर चल गए। शीला से तो सरोज ने अवश्य कह दिया, परन्तु कुछ शक उसे भी होने लगा। उसने भी अन्दर आकर शीला के मुख से उसके मुख का मिलान किया तो दोनों एकदम एक थे। एक-सा नाक, एक-सी आँखें, एक-सी ठोड़ी और मस्तक तो बिलकुल एक ही था।

सरोज स्वयं मूर्ख बन गया।

फिर सोचा, नहीं, नहीं; यह ख्याल-ही-ख्याल है। बेकार की बात है। ऐसा भी भला कहीं हो सकता है!

"चौथी खुराक आपने नहीं दी शायद अभी सरोजबाबू!"

"अभी आधा घंटा है उसे देने में और हाँ होश में आते ही कुछ पूछ बैठना इनसे।" अब सरोज के मुंह से 'इससे' शब्द के स्थान पर स्वयं

ही 'इनसे' निकल पड़ा। वह 'इससे' नहीं कह सका।

"हाँ तो क्या केवल पेड़े ही थे? देखूँ ज़रा उन पेड़ों को?"

शीला ने पेड़े सरोज के हाथ में देते हुए कहा, "एक और भी चीज़ है।"

"वह क्या?" सरोज ने पूछा।

"उसीने तो मुझे मूर्ख बना दिया सरोजबाबू!" शीला बोला।

सरोज ने पेड़े देखे तो मालूम हुआ कि पेड़े बोल-बोलकर कह रहे थे कि उनको उसी पल्ले में बँधे बीस वर्ष हो चुके हैं। सचमुच ये वे ही पेड़े हैं जो उसने एक दिन शीला के लिए खरीदे थे।

"हाँ, और क्या था शीला?"

शीला ने वह चित्र सरोज के हाथों मे दे दिया। सरोज इस चित्र को बिलकुल नहीं जानता था। वास्तव में पद्मादेवी के पूजा के कमरे में कोई नहीं जाता था। केवल तीन ही आदमी जानते थे इस रहस्य को। एक शीला, दूसरे विनोदबाबू और तीसरी पद्मादेवी स्वयं।

"यह किसका चित्र है?"

"देखने में यह चित्र बिलकुल पिताजी के जैसा मालूम पड़ता है।" शीला ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"मैं नहीं समझा शीला!" सरोज ने उत्सुकता से पूछा।

"सरोजबाबू! मेरी माताजी पूजा किया करती हैं, आप जानते ही हैं। वह किसी देवता की मूर्ति को सामने रख कर पूजा नहीं करतीं।"

"फिर?"

"बिलकुल ऐसा ही एक चित्र है जिसे सामने रखकर वह पूजा करती हैं।" शीला बोली।

"समझा...अपने पति के चित्र को पूजती हैं।" सरोज ने कहा।

"हाँ।"

"परन्तु यह चित्र इनके पास कहाँ से आया?"

"यही तो आश्चर्य की बात है।" शीला ने कहा, "इसीने तो मुझे परेशान करके किसी निश्चय पर पहुँचने से रोक दिया।"

"नहीं शीला! इस चित्र में और उसमें कुछ अन्तर होगा।"

"अन्तर केवल इतना ही है कि वह अभी तक सुन्दर बना हुआ है और यह पुराना पड़ गया है।" शीला ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"नहीं, इसमें धुंधला होने पर कुछ उसका अभास आगया होगा। दोनों बातें बेसूद हो गईं। खूब रही यह भी!"

दोनों डेरे से बाहर चले आए। दोनों ने आपस में इधर-उधर की बातें करके इस बात को भूला देना चाहा, परन्तु बात मस्तिष्क पर इतनी जम चुकी थी कि दूर न हो सकी।

"चलो दवा का समय हो गया।" शीला ने कहा।

"अभी कुछ मिनट हैं।"

"चलो अच्छा अन्दर चलें।"

फिर दोनों डेरे में चले आए। इतने में सरोज की माताजी जलसे से चली आईं और सीधी अन्दर चली गईं।

"अरे, यह कौन?" उन्होंने आश्चर्यचकित होकर पूछा।

"एक स्त्री है माताजी! भीड़ में इस बेचारी को चोट आगई। मैं इन्हें अपने साथ ले आया। कोई ग़रीब स्त्री मालूम देती है।"

"अभी तक बेहोशी नहीं टूटी। डाक्टर ने कहा था कि चौथी खूराक पर छूट जाएगी। अब थोड़ी ही देर में मैं चौथी खूराक दूँगा इन्हें।" सरोज ने कहा।

सरोज बराबर अपनी बात कहता गया, परन्तु उसकी माताजी बिलकुल शान्त थीं। उसी खाट पर बैठ गईं जिसपर वह स्त्री पड़ी थी। उन्होंने डेरे की बत्ती जला दी और बड़े ध्यान से उसका मुँह देखा।

"वही है!" धीरे-से उसके मुँह से निकला।

"क्या आप पहचानती हैं इन्हें?" शीला ने धीरे-से पूछा।

"हाँ !" एक लम्बी साँस लेकर उन्होंने कहा, "क्या दशा हो गई बेचारी की ? चौथी खुराक दो इन्हें सरोज ! जल्दी से होश में लाओ बेटा !" तनिक उतावलेपन से उन्होंने कहा।

"अभी दो मिनट हैं माताजी !"

"दो मिनट पहले ही दे दो बेटा ! जल्दी करो। देर मत करो।" फिर उस स्त्री की ओर देखकर बोलीं, "तेरी यह दशा ललिता ! मेरे बार-बार कहने पर भी तू नहीं रुकी। तूने एक बात भी नहीं सुनी मेरी।" उनके मुँह से निकला।

सरोज केवल इतना जान पाया कि उसे गोद लिया गया है और वह लावारिस है। कभी उसकी माँ का नाम तक भी उसे नहीं बताया गया था।

"यह कौन है माता जी, जल्दी बताओ !" दवा पिलाकर सरोज ने उत्सुकता से पूछा।

"यह तेरी माँ है बेटा ! तेरी माँ है यह।"

"मेरी माँ मेरी माँ, माँ...माँ......!"

"चुप रहो बेटा ! बिलकुल चुप...देखते नहीं हो क्या दशा है इनकी ? इतनी कमजोरी में तुम्हें पाकर कहीं इनके प्राण न निकल जाएँ।"

शीला अभागी-सी खड़ी रह गई। क्या-से-क्या होगया ? कहाँ तो वह पेड़ों की बात और कहाँ वह सरोज की माँ।

शीला ने एक लम्बी साँस ली, परन्तु यह सन्तोष था कि आज इस बहाने सरोज की माताजी मिल गईं।

शीला बहुत प्रसन्न हो उठी अन्दर-ही-अन्दर।

चौथी खुराक ने वास्तव में पूरा असर किया और पीने के दस ही मिनट बाद ललिता ने आँखें खोल दीं।

उसने चकित-सी होकर चारों ओर देखा और फिर उठने का प्रयास

सा किया ।

"उठो मत माँ !" सरोज ने धीरे-से कहा ।

"मैं कहाँ हूँ बेटा !" कितना प्यारा था यह 'बेटा' शब्द ! मानो उसने पहचान लिया सरोज को ।

"अपने घर ही हो माँ !"

इतने में सरोज की माताजी ने ललिता के पास आकर धीरे-से अपनी ओर उसका मुँह करके कहा,"कुछ पहचानती हो ललिता ?"

"हाँ बहन......"

"तुम्हें कितना मना किया था मैंने जाने के लिए ललिता ? परन्तु तुमने उस समय मेरी एक नहीं सुनी... ..."

"मेरा बेटा कहाँ है बहन ? मेरा बेटा......!"

"यह सामने खड़ा है तुम्हारा बेटा।"

"इतना बड़ा होगया।"

"बीस वर्ष होचुके ललिता !"

आज कितनी प्रसन्न थी ललिता ।

इतने में पद्मादेवी भी वहीं पर आगईं । पद्मादेवी सीधी अन्दर चली आईं । आते ही बोलीं,"शीला रानी, -अब चलो चलें .." वह कुछ और आगे बढ़ी तो अचानक उस स्त्री को देखकर उनके मुख से निकल पड़ा, "अरे ! ...कौन...कौन...ललि...ता...!"

पद्मादेवी ने सबके देखते-देखते ललिता के पैरों पर अपना सिर रख दिया । वह रो रही थीं । उनकी आँखों से पानी बह रहा था । वह सिसकियाँ भर रही थीं ।

"कौन ? बहन पद्मा !" ललिता ने प्यार से पद्मा को छाती से लगा लिया । वह अब तनिक भी पागल नहीं थी ।

"मुझे क्षमा करदो ललिता ! मुझ पापिन को क्षमा कर दो !" उन्होंने सिसकियाँ भरते हुए कहा ।

यह दृश्य देखकर सब लोग अवाक् रह गए ।

"भाग्य का बदा कौन टाल सकता है ?" क्या तुम इन्हें जानती हो ? ललिता सरोज की ओर इशारा करके बोली, "इसे तुमने नहीं पहचाना होगा पद्मा ! यह तुम्हारा ही लड़का है ।"

पद्मा ने चकित होकर प्यार से सरोज को देखा ।

अधिक बोलने की शक्ति ललिता में नहीं थी ।

केवल ललिता और पद्मा ही कुछ समझ पाए । अन्य सब मौन थे ।

सरोज और शीला बड़े आश्चर्य में थे । शीला ने सरोज को एक ओर करके कहा, "वह चित्र अवश्य उनका ही था ।"

"यही मालूम देता है अब तो ।"

पद्मादेवी तो कुछ कह ही नहीं सकती थी । सरोज को वह इतना प्यार क्यों करती थीं, यह उनकी समझ में आज आया । आखिर वह उनका अपना ही पुत्र था ।

"विमला कहाँ है ललिता ?" जेलर साहब की पत्नी ने पूछा ।

विमला का नाम सुनते ही ललिता रो पड़ी । उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली ।

"क्यों, क्या हुआ ?"

"उसी ने तो मुझे पागल कर दिया बहन ! आज मैं जाने किस तरह बोल रही हूं । मैं तो पागल थी बहन ! विमला का नाम मत लो मेरे सामने, नहीं तो मैं फिर पागल हो जाऊँगी और मेरी यह सारी खुशी खाक में मिल जाएगी।"

ललिता शांत हो गई थोड़ी देर के लिए । फिर बोली, "वह मेरा मेरा साथ छोड़ गई बहन ! यहीं, इसी हरिद्वार की भेंट चढ़ादी मैंने अपनी बेटी ।"

"क्या .....?"

"आज से सत्तरह वर्ष पूर्व वह खो गई थी ! उसके लिए मैं पागल होकर कहाँ-कहाँ नहीं भटकी, परन्तु उसका कहीं पता न चला ।

"उसके पेड़े आज तक मेरी धोती में......"

"पेड़े···पेड़े !!" शीला के मुख से ज़ोर से निकला।"

"माँ, तुम मेरी माँ हो···मेरी माँ ··!"

"विम ला···!"

एक बार ललिता फिर अचेत हो गई, परन्तु यह अचेनता अधिक देर तक न रही। पद्मा एक ओर खड़ी यह स्वप्न-सा देख रही थी।

सत्तरह वर्ष पहले कुंभ के अवसर पर वह शीला को ले गई थीं हरिद्वार से। उस समय कुछ विमला-जैसा ही नाम बताया था शीला ने, परन्तु वह कुछ स्पष्ट नहीं था।

पद्मा ने आज तक अपनी ही बेटी को पाला था। सरोज और शीला ललिता के दो जुडवाँ बच्चे थे, जिनका जन्म जेल में हुआ था।

× × ×

"देखो भैया! इस बार मैं फ़र्स्ट आऊँगी।" शीला ने सरोज का हाथ खींचते हुए कहा।

"तू ही आ जाना बावली! परन्तु मेहनत करनी होगी। यूँही काम नहीं चलेगा।" कहकर मुस्करा दिया।

"चलो, चाय पी लो।"

"अच्छा चलो चाय ··।" मुँह बना कर सरोज बोला, "फिर चाय··· इस वक्त चाय···जब देखो तब चाय ··सिनेम को देर हो···।"

"फिर सिनेमा हर वक्त सिनेमा, जब देखो तब सिनेमा···चाय ठंडी हो रही है और···"

"अच्छा चल" सरोज ने नाक सकोड़ते हुए कहा। बड़ी परेशान करती है शीला!"

दोनों जाकर चाय पीने लगे।

चाय के बाद शायद सिनेमा भी जरूर गए होंगे।

